खण्ड 4

नास्तिक दर्शन

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खण्ड परिचय

भारतीय दर्शन को लेकर यह एक प्रसिद्ध मत है कि नास्तिक ये दार्शनिक सम्प्रदाय हैं जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते। जबकि यह सही नहीं है क्योंकि कई आस्तिक सम्प्रदाय जैसे कि सांख्य और पूर्व मीमांसा ईश्वर (सृष्टिकर्त्ता) के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। इन दार्शनिकों के लिये विशेषतः तीन प्रमुख प्रश्न थे। 1. वेदों की आत्मा के विषय में अधिकारिता, 2. यज्ञ की सार्थकता और 3. ब्राह्मणों की सर्वोच्चता। ज्ञातव्य है कि सांख्य एवं योग को आस्तिक कहा जाता है लेकिन ये दोनों की वेदों और उनकी शिक्षा के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि रखते हैं। कई विषयों में, ये वेदों में केवल कहने भर के लिये विश्वास व्यक्त करते हैं, और जहाँ उनके मत समान होते हैं ये आस्तिक समर्थन का दावा करते हैं। इतिहास में आस्तिक धर्मों के विरोध के बहुत से साक्ष्य मिलते हैं। हमारे उद्देश्य के लिए, हमने केवल उन तीन दार्शनिक सम्प्रदायों; चार्वाक, बौद्ध और जैन का उल्लेख किया है, क्योंकि इन तीनों का उल्लेख आस्तिक दर्शनों में प्रमुखता से हुआ है।

इकाई 14 'चार्वाक दर्शन' के विषय में है जो भारतीय जड़वादी परम्परा का प्रवर्तक सम्प्रदाय है। तथा यह एक प्राचीनतम अवैदिक सम्प्रदाय है। यद्यपि चार्वाक शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं हैं परन्तु विद्वानों के अनुसार चार्वाक उस शिष्य का नाम था जिसको उसके गुरू ने सर्वप्रथम इस दर्शन की शिक्षा दी थी। इस शब्द का शाब्दिक अर्थ मीठी वाणी बोलने वाला (चारु वाक्) है। इस प्रसंग में देखें तो सम्भवत इस दर्शन को यह नाम इसलिए दिया गया क्योंकि यह दर्शन काम और अर्थ को अधिक महत्व देने के कारण ऊपरी तौर पर आकर्षक है।

इकाई 15 में 'जैन दर्शन' पर प्रकाश डाला गया है जो नास्तिक परम्परा का बहुत पुराना सम्प्रदाय है एवं वेदों का विरोधी है। जैन शब्द 'जिन' शब्द से आया है जिसका अर्थ होता है 'विजयी' अर्थात् जिसने अपनी भावनाओं और इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली है। उत्तर वैदिक युग में जैन दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ लेकिन इसका पुनोर्त्थान वर्धमान, जो छठीं शताब्दी ई. पू. में वर्तमान थे और जो महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुए, के दर्शन में देखने को मिलता है।

इकाई 16 'बौद्ध दर्शन–I' है। इसमें पूर्व बौद्ध दर्शन, जिसे पाली बौद्ध दर्शन या सैद्धांतिक बौद्ध दर्शन भी कहा जाता है, का विवरण प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में, पूर्व बौद्ध दर्शन की उत्तर बौद्ध दर्शन से परस्पर भिन्नता है क्योंकि उत्तर बौद्ध दर्शन भगवान बुद्ध के दार्शनिक विचारों के प्रस्तुतीकरण के बहुत बाद विकसित हुआ। बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक सिद्धार्थ थे जो गौतम परिवार से सम्बन्ध रखते थे। ज्ञान की प्राप्ति के बाद उन्हे 'बुद्ध' 'जाग्रत्' की संज्ञा मिली।

इकाई 17 'बौद्ध दर्शन–II' विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों की शिक्षाओं पर प्रकाश डालती है। भगवान बुद्ध की नैतिक शिक्षाओं को उत्तर बौद्धों के सभी सम्प्रदायों ने लगभग यथावत स्वीकार कर लिया। लेकिन जीवन के आदर्श को लेकर बौद्ध मत दो संप्रदायों में विभक्त हो गया– हीनयान और महायान। दोनों हीनयान और महायान व्यक्तिगत मुक्ति को तो स्वीकार करते हैं लेकिन महायान में मुक्ति मात्र अपने लिए नहीं है अपितु दूसरों की मुक्ति के लिये निरंतर प्रयास रत रहना ही मुक्ति है। इनका आदर्श बोधिसत्व का है जो दूसरों की मुक्ति के लिए प्रयासरत रहता है लेकिन हीनयान का आदर्श अर्हत है जो केवल अपनी मुक्ति के लिए सचेत रहता है। इन सम्प्रदायों में विवाद के कई अनेक बिन्दु हैं, जिन्हें इकाई में विस्तार से देखेंगे।

इकाई 14 चार्वाक दर्शन[14]

रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 परिचय

14.2 चार्वाक की तत्वमीमांसा

14.3 चार्वाक की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप

14.4 ईश्वर या किसी परासत्ता (प्रत्ययगोचर) का निषेध

14.5 चार्वाक की ज्ञानमीमांसा

14.6 ज्ञान के विषय में चार्वाक की दृष्टि

14.7 चार्वाक की भ्रम–विषयक दृष्टि

14.8 जीवन–दृष्टि

14.9 सारांश

14.10 कुंजी शब्द

14.11 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

14.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

भारतीय दर्शन को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जाता है– नास्तिक दर्शन और आस्तिक दर्शन। जो वेदों की प्रमाणिकता को स्वीकार नहीं करते हैं, उन्हें नास्तिक कहते हैं तथा जो वेदों की सत्ता को स्वीकार करते हैं उन्हें आस्तिक दर्शन कहते हैं। चार्वाक, बौद्ध और जैन नास्तिक दर्शन के अंतर्गत आते हैं। इस इकाई में चार्वाक दर्शन के विषय में आप निम्नांकित तथ्यों से अवगत होंगे:

- तत्वमीमांसा
- आत्मा
- किसी परासत्ता या ईश्वर का खण्डन
- ज्ञान मीमांसा
- जीवन दृष्टि

[14] प्रो. सुधा गोपीनाथ, कोरामंगला, बैंगलोर, अनुवाद– प्रो. ए के राई, बीएचयू, वाराणसी

14.1 परिचय

चार्वाक दर्शन या भारतीय भौतिकवाद दर्शन का प्रथम सम्प्रदाय माना जाता है। यह सबसे प्राचीन अवैदिक सम्प्रदाय भी है। चार्वाक बृहस्पति को अपना गुरु मानते हैं। 'चार्वाक' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है लेकिन विद्वानों का मत है कि बृहस्पति ने जिस पहले शिष्य को इस दर्शन की शिक्षा दी उसका नाम चार्वाक था। चार्वाक का शब्दिक अर्थ चारु और वाक् (मीठी वाणी) शब्दों से निगमित होता है। इस प्रकार चावार्क का अर्थ होता है मीठी वाणी बोलने वाला या मीठी वाणी जो उस सिद्धान्त के लिए प्रयोग किया जा सकता है जो उथले रूप में आकर्षक हो क्योंकि यह सिद्धान्त काम और अर्थ (सम्पत्ति) की प्राप्ति का समर्थन करता है। चार्वाक के मूल ग्रंथ विलुप्त हो गये हैं, लेकिन इसके विषय में जो पर्याप्त सूचना हिन्दू, जैन और बौद्ध साहित्य से मिलती है इससे स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में न केवल आध्यात्मवाद अपितु जड़वाद का भी स्थान था। ऋग्वेद के लौक्य बृहस्पति ने जड़ को ही परमतत्व कहा। प्रारंभ में जड़वाद को संदेहवाद और अज्ञेयवाद से जोड़ कर देखा गया। परन्तु बृहस्पति ने इसे पृथक् स्वरूप प्रदान किया। प्रारम्भिक अवस्था में चार्वाक 'स्वभाववाद' में विश्वास करते थे। ये वस्तुओं के बाहरी गुणों के विपरीत किसी वस्तु के स्वाभाविक गुणों को ही उस वस्तु का वास्तविक कारण मानते थे। उन्होंने सृष्टि के मूल में किसी परासत्ता के अस्तित्व का खण्डन किया। आग गरम है, पानी ठण्डा है और वायु को स्पर्श किया जा सकता है। वस्तुओं में इस प्रकार के भेदों को किसने उत्पन्न किया? चार्वाक इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि वस्तुओं के ये गुण उसका स्वभाव हैं। वस्तुतः वस्तुऐं जो दिखती हैं वही हैं एवं उनकी प्रकृति अपने आप में सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त भिन्नता तथा क्रम की व्याख्या कर देती है। चार्वाक कार्य से भिन्न कारण की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उसके अनुसार दो वस्तुओं को एक साथ देखने से एक को दूसरे का कारण नहीं कहा जा सकता। क्या हम अग्नि और धूम (धुंआ) को साथ–साथ देख कर वास्तव में यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अग्नि धूम कारण है? प्रश्न है कि क्या हम तार्किक रूप से कह सकते हैं कि जहाँ धूम है वहीं अग्नि है तथा मेरे जन्म के पहले भूत में ऐसा ही था और भविष्य में भी, जब मैं नहीं होउंगा, यह सत्य रहेगा? यद्यपि, इस सम्प्रदाय के विषय में हमारी जानकारी अत्यंत अल्प है। इस दर्शन का अन्य दार्शनिकों ने जो खण्डन किया है उसी के आधार पर इसकी रूपरेखा कुछ उभर कर सामने आती है, तथापि, माधवाचार्य (विद्यारण्य स्वामी) के *सर्वदर्शनसंग्रह* नामक ग्रंथ में इस दर्शन पर एक अध्याय लिखा गया है लेकिन यह भी अत्यंत अल्प है तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त जानकारियों से अधिक नहीं है। चार्वाक को लोकायत भी कहा जाता है जिसका तात्पर्य है कि यह दर्शन स्वयं को सामान्य बुद्धि तक सीमित करता है। चूंकि अधिकांश दर्शन चार्वाक दर्शन को इसके भौतिकवादी सिद्धान्तों की आलोचना के क्रम में ही संदर्भित करते हैं। इसलिए यह सम्भव है कि ये दर्शन चार्वाक दर्शन के दोषों का अतिरंजन कर रहे हों और/अथवा भ्रमपूर्ण वर्णन।

14.2 चार्वाक की तत्वमीमांसा

भाववादी होने के कारण चार्वाक का दावा है कि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। इसलिए चार्वाक के लिए केवल प्रत्यक्षात्मक वस्तु ही ज्ञान का विषय है। जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता है, वह कल्पनात्मक है। इस आधार पर जड़ ही एकमात्र तत्त्व है, और संसार चार तत्त्वों, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु से निर्मित है, ये चारों तत्त्व भौतिक हैं और प्रत्यक्षगम्य हैं। आकाश को पृथक् तत्व नहीं माना गया क्योंकि इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। जड़ जगत् का

उपादान एवं निमित्त दोनों कारण है तथा यह सदा से है और सदा रहेगा। सभी चर–चराचर इसी के विकार है। बृहस्पति का सूत्र 'जड़ से ही जीवन उत्पन्न होता है' अन्तर्निहित करता है कि जड़ परम सत्ता है। *तत्त्वोपप्लवसिंह* में जयराशिभट्ट (वैतण्डिकों में से एक; कुछ विद्वानों का विश्वास है कि यह चार्वाक परम्परा के दार्शनिक थे) लिखते हैं कि प्रत्यक्ष एकमात्र प्रमाण है और यह इन्द्रिय–विषय (अर्थ) का सन्निकर्ष है। और प्रत्यक्ष को स्वीकारने का तात्पर्य है कि यहाँ तककि चार तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) की सत्ता सिद्ध न होना, क्योंकि तत्त्व सूक्ष्म प्रकृति के होने के कारण हमारी इन्द्रियों के विषय नहीं हो सकते हैं।

14.3 चार्वाक की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप

चार्वाक दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। चूँकि शरीर से पृथक् आत्मा नामक किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिए आत्मा के लिए इस दर्शन में कोई स्थान नहीं है। चार्वाक के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु एक विशेष तरीके से मिलकर शरीर का निर्माण करते हैं। प्राण और चेतना शरीर के धर्म हैं। शरीर ही आत्मा है तथा शरीर से पृथक नित्य आत्मा का अस्तित्व नहीं है। वियोजन की अवस्था में जड़ के सूक्ष्मतम कण, जोकि जड़ के आधारभूत घटक हैं, में भी प्राण या चेतना नहीं रहते। उस समय, ये प्राणरहित और असंज्ञा की अवस्था में होते हैं। किन्तु, इन तत्त्वों के विशिष्ट एवं पारस्परिक संयोजन प्राण और चेतना को जन्म देता है। इसलिए चेतन शरीर ही आत्मा है। दूसरे शब्दों में चेतना या मन जड़ पदार्थों से उत्पन्न एक उपतत्व है। यह उपतत्व (चेतना) किसी एक तत्व के गुण का परिणाम नहीं है बल्कि यह बहुत से तत्वों के समुच्चय से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, जिस प्रकार से मादकता का गुण 'जौ' के साथ अन्य पदार्थों को मिलाने से आ जाता है, यद्यपि उन पदार्थों में यह पहले से स्वतंत्र रूप में विद्यमान नहीं रहता है। उसी प्रकार चेतना भी जड़ तत्वों से उत्पन्न होती है। *सर्वसिद्धांतसारसंग्रह* में कहा गया है, "जिस प्रकार पान कत्था और चूने को मिश्रण से लाल रंग उत्पन्न होता है। उसी प्रकार जड़ तत्वों के मिश्रण से चेतना की उत्पत्ति होती है।" विचार जड़ द्रव्य का कार्य है। चेतना शरीर का धर्म है इसलिए मरने के बाद चेतना लुप्त हो जाती है तथा जड़ तत्त्व अपनी तरह के जड़ तत्त्व में मिल जाते हैं, केवल राख और धूल शेष रह जाती है। पुनर्जन्म और कर्म फल आदि अर्थहीन शब्द हैं।

चार्वाक अपने मत को इस प्रकार से स्पष्ट करते हैं। हम यह मानते हैं कि 'मैं' या 'अहं' के माध्यम से चेतना का कर्तृ, भोक्तृ और द्रष्टृ के रूप में परिचय मिलता है। चार्वाक के अनुसार 'मैं' शरीर को ही कर्ता, भोक्ता, द्रष्टा, के रूप में प्रदर्शित करता है। हम कहते हैं 'मैं जवान हूँ' 'मैं मोटा हूँ' 'मैं प्रौढ़ हूँ' आदि, इन कथनों से यही प्रतीत होता है कि शरीर ही आत्मा है। दोनों के पृथक् अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है। जब हम कहते हैं कि 'मैं लिख रहा हूँ' तो इसमें आत्मा का कर्ता के रूप में परिचय मिलता है। यदि लिखते समय कोई व्यक्ति घर में है तब आत्मा का परिचय उस घर में होता है। जब हम कहते हैं कि 'मैं घर में हूँ' तो इसका अर्थ यही होता है कि शरीर घर में है। जब मैं यह कहता हूँ कि 'मैं चन्द्रमा को अपने कमरे से देख रहा हूँ' तो यहाँ पर हमें 'मैं' का परिचय दृष्टा के रूप में तथा कमरे में होता है। यहाँ पर भी 'मैं' शरीर से पृथक् दृष्टा नहीं है तथा यही शरीर घर में भी है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'मैं गड्ढे में गिर गया और मुझे बड़ा कष्ट हुआ' तो यहाँ पर 'मैं' का ज्ञान भोक्ता के रूप में होता है और यहाँ भी इसका अर्थ शरीर ही होता है। इसलिए शरीर ही आत्मा है। चार्वाक 'मैं' के विभिन्न अर्थों का विलोपन करते हुए शरीर को आत्मारूप मानते हैं।

इस विषय पर बाद में चार्वाक दर्शन में तीन और मत आये। प्रथम मत के अनुसार, चेतना इन्द्रियों के कारण सत्तावान होती हैं। द्वितीय मत के अनुसार, 'प्राण शक्ति' कर्तृपन (चेतना) है तथा तृतीय मत के अनुसार ज्ञाता होने के कारण मन ही चेतना है। यद्यपि प्राण और मन को शरीर से पृथक् मानते हुए भी, उनका शरीर से पृथक् अस्तित्व नहीं माना गया है।

चार्वाक का यह मत कि शरीर ही आत्म है ने स्वाभाविक रूप से पुरजोर विवाद उत्पन्न किया। चूँकि अन्य सभी दर्शनों में आत्मा को विशेष स्थान प्राप्त है इसलिए उन सभी ने चार्वाक मत का पुरजोर खण्डन किया। चार्वाक के विरूद्ध उन्होंने अग्रलिखित युक्तियां प्रस्तुत कीं। सर्वप्रथम, उनके अनुसार चदि चेतना शरीर का धर्म है तो यह या तो अनिवार्य धर्म होगा या फिर आगुन्तक। यदि यह (चेतना) अनिवार्य धर्म है तो चेतना को शरीर से पृथक् नहीं किया जा सकता।

तब शरीर की समाप्ति के साथ ही इसका भी अंत हो जाएगा। लेकिन हम देखते हैं कि मूर्छा की अवस्था में और स्वप्नहीन निद्रा में चेतना शरीर से पृथक हो जाती है। अब, यदि यह आगन्तुक धर्म है तो चेतना को उत्पन्न करने वाली कोई उपाधि या अभिकरण अवश्य होना चाहिए। ऐसी स्थिति में चेतना को पूर्णतः शरीर का धर्म नहीं कहा जा सकता। पुनः जब कोई व्यक्ति स्वप्न से जागता है तो यह अपने शरीर को ही अपना कहता है न कि सपने में धारण किये गये किसी अन्य शरीर जैसे शेर आदि, के शरीर को। अतः अधिकांश विद्वानों का मत है कि यह मान भी लिया जाए कि चेतना सदैव भौतिक शरीर से जुड़ी रहती है तो भी हम यह नहीं कह सकते कि प्राणी के मरने के साथ ही चेतना भी नष्ट हो जाती है। यह किसी अन्य ढंग से निरंतर बनी रह सकती है। माना यह स्थिति सिद्ध नहीं की जा सकती परंतु चार्वाक के मत में संदेह होना ही उसके मत के निषेध के लिए पर्याप्त है। पुनः यदि चेतना का जुड़ाव शरीर के साथ स्थाई मान भी लिया जाये तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि चेतना शरीर का धर्म है। उदाहरण के लिए, आँख पूर्ण अंधेरे में देखने में असमर्थ होती है लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि नेत्रीय प्रत्यक्ष प्रकाश का धर्म है। इसी प्रकार, हम यह कह सकते हैं कि शरीर चेतना के व्यक्त होने के लिए एक माध्यम है। एक दूसरी सबसे महत्त्वपूर्ण युक्ति यह है कि हम बाह्य इन्द्रियों से दूसरे का केवल शरीर देखते हैं लेकिन उसके मन के भावों विचारों, सुख–दुःख आदि को नहीं देखते हैं, ये केवल उसी व्यक्ति को ज्ञात होते हैं। यदि चेतना शरीर का धर्म होती तब अन्य व्यक्ति के मनोभावों सुख–दुःख आदि का साक्षात् ज्ञान दूसरों को भी हो जाता लेकिन ऐसा नहीं होता। अतः शरीर दूसरे के द्वारा भी जाना जा सकता है लेकिन चैतन्यगत धर्म के बोध के लिए स्वचेतना को पृथक् मानना आवश्यक है। एक दूसरे उदाहरण से भी इस समझा जा सकता है कि बीमार का दाँत दर्द दाँत के डाक्टर की दृष्टि से बीमार व्यक्ति का है न ही उसका स्वयं का। चार्वाक के विरोधी इससे निष्कर्ष निकालते हैं चेतना भौतिक शरीर का गुण नहीं है बल्कि किसी और का धर्म या गुण है अथवा यह (चेतना) एक स्वतन्त्र तत्त्व है जिसकी अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से होती है।

14.4 ईश्वर अथवा किसी परासत्ता (प्रत्ययगोचर) का निषेध

चूँकि यह सम्प्रदाय प्रत्यक्ष ज्ञान में विश्वास करता है। अतः यह किसी भी परासत्ता का निषेध करता है। यह न तो ईश्वर को मानता है और न ही किसी ऐसे अंतःकरण को जो मनुष्य का पथ प्रदर्शक है। भारतीय दर्शन के अन्य सभी सम्प्रदाय नैतिकता एवं एक ऐसा जीवन मार्ग जिसमें मृत्यु के बाद जीवन के लिये पर्याप्त स्थान है को स्वीकार करते हैं। लेकिन

चार्वाक ऐसे किसी भी जीवन का खण्डन करते हैं और कहते हैं कि मृत्यु के बाद कोई जीवन नहीं होता जिसमें अच्छे कार्य का पुरस्कार मिलता है और बुरे कर्म अधिक के लिए दंड मिलता है। चार्वाक केवल इन्द्रिय सुख में विश्वास करते हैं और उच्च नैतिक जीवन का निषेध करते है। उनके अनुसार, प्रकृति साधु य असाधु के मध्य भेद नहीं करती। सूर्य साधु और असाधु पर समान किरणें डालता है। चार्वाक मानते हैं कि मनुष्य कमजोरीवश ईश्वर को मानते हैं। वास्तव में, कोई स्वर्ग और नरक नहीं हैं केवल यही जगत् है जहाँ हम रहते हैं।

चार्वाक किसी भी ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते। यदि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और करूणामय है, तो अपने अस्तित्व के विषय में जीवों के अज्ञान को क्यों नहीं दूर कर देता? ईश्वर पुण्य और पाप का न्यायाधीश भी नहीं है। यदि वह न्यायाधीश हो तो वह पक्षपात ओर निर्दयता के आरोप से नहीं बच सकता। इसलिए चार्वाक कहते हैं कि निर्दयी ईश्वर को मानने से अच्छा है उसे न मानना। कोई भीजगत् का सर्वोच्च शासक नहीं है। पृथ्वी का देवता राजा है। जो राज्य का संचालन करता है और साधु और असाधु को समाज में सही और गलत का निर्णायक है।

14.5 चार्वाक की ज्ञान मीमांसा

चार्वाक के अनुसार, ज्ञान का आश्रय शरीर है। ये इस विचार को 'उपस्थित में उपस्थित और अनुपस्थित में अनुपस्थित' के नियम से सिद्ध करते हैं। हम देखते हैं कि शरीर के रहने पर ही ज्ञान रहता है और नहीं रहने पर नहीं रहता है। ठीक वैसे ही जैस फूल का रंग तभी तक रहता है जब तक फूल रहता है। कोई भी व्यक्ति इस तथ्य से इंकार नहीं कर सकता कि जब तक इन्द्रियां रहती हैं तभी तक ज्ञान भी रहता है तथा जब इन्द्रियां नहीं रहती हैं तो ज्ञान भी नहीं रहता है। अतः अन्वय–व्यतिरेक (उपस्थित और अनुपस्थित के मध्य सहमति) से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान का आश्रय इन्द्रियां हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 'उपस्थित में उपस्थित और अनुपस्थित में अनुपस्थित' को युक्ति की तरह नहीं लेते। चूँकि चार्वाक अनुमान को प्रमाण नहीं मानते हैं इसलिए यहीं इस नियम का सहारा लेना चार्वाक की दृष्टि से अनुमान नहीं है अपितु प्रत्यक्ष ही है।

चूँकि चार्वाक के अनुसार इन्द्रियां पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, जैसे भौतिक तत्वों से निर्मित हैं इसलिए इन्द्रिय चैतन्यवाद का एक दूसरा नाम भूतचैतन्यवाद भी है। इस मत के खण्डन के लिए प्रतिपक्षी यह तर्क देते हैं कि वृद्धावस्था में हम बचपन की बातों का स्मरण करते हैं। लेकिन भूतचैतन्यवाद को स्वीकारने पर इस तथ्य (पुनः स्मरण) की व्याख्या नहीं हो सकती है। पुनर्स्मरण का कारण चेतना में संचित पूर्व के संवेदन (संस्कार) हैं। लेकिन भूतचैतन्यवाद में संस्कार (संवेदन) इन्द्रियों में अवस्थित हो सकते हैं और जड़ के परमाणुओं (भौतिक परमाणुओं) के नष्ट (लय) होने के कारण लड़कपन के इन्द्रिय बुढ़ापे में वर्तमान नहीं (अस्तित्व में नहीं हैं)। अतः इन्द्रियों में अवस्थित संस्कार भी नष्ट हो जाने चाहिए। किन्तु चार्वाक के मत में इस आपत्ति का उत्तर दिया जा सकता है। प्रथमतः, चार्वाक कार्य–कारण सम्बन्ध में विश्वास नहीं करते हैं। अतः इस आपत्ति के लिए उनका उत्तर होगा कि जिसका प्रत्यक्षगत अनुभव नहीं हुआ है उसे स्वीकारा नहीं जा सकता है (उस अनुभव की सत्यता नहीं स्वीकारी जा सकती है)। इसलिए, चार्वाक के मतानुसार, संस्कार पुनर्स्मरण का कारण नहीं है। पुनर्स्मरण का विषय पूर्व में प्रत्यक्ष वस्तु है। अतः अज्ञात वस्तु प्रस्तुत नहीं की जा सकती है। स्वभाव (प्रकृति) की विशिष्टता के कारण, विभिन्न स्थान

(दिक) और समय (काल) में विभिन्न रूपों के साथ विभिन्न वस्तुएं उत्पन्न होती हैं। इसके लिए कोई कारण स्वीकारने की आवष्यता नहीं है।

14.6 ज्ञान के विषय में चार्वाक की दृष्टि

चार्वाक के अनुसार ज्ञान अधिक दो भागों में विभक्त है; अनुभव और स्मरण। अनुभव को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है; प्रत्यक्ष और कल्पना। प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो पंच ज्ञानेन्द्रियों– नेत्र, जिव्हा, नासिका, कर्ण (कान) और त्वचा (स्पर्श) के द्वारा होता है, जिनसे क्रमशः रंग, स्वाद, गंध, स्पर्श और ध्वनि का ज्ञान होता है। यैध ज्ञान (प्रमाण) वह ज्ञान होता है जिसे भविष्य में किसी अन्य ज्ञान के द्वारा खण्डित नहीं किया जा सके। अकेली इन्द्रियाँ ही यैध ज्ञान के साधन हैं। इस प्रकार चार्वाक का मानना है कि अन्य तरह का ज्ञान, जैसे अनुमान और शब्द अयैध (अयथार्थ) हैं। प्रत्यक्ष को छोड़कर अन्य ज्ञान के रूप अयथार्थ हैं, अतः ये सभी कल्पना की प्रकृति वाले हैं। चार्वाक ने अनुमान और शब्द प्रमाण की अप्रमाणिकता के लिए निम्न प्रकार से तर्क प्रस्तुत किए हैं:

चार्वाक के अनुसार, अनुमान वह प्रक्रिया है जहाँ हम किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता या असत्यता का दावा अन्य प्रतिज्ञप्ति के आधार पर करते हैं। अनुमान निगमनात्मक या आगमनात्मक हो सकता है, लेकिन चार्वाक ने अनुमान खण्डन किया है और इसलिए अनुमान के इन भेदों का चार्वाक के दर्शन में कोई स्थान नहीं है। जहाँ तक ज्ञान की समस्या है, चार्वाक के अनुसार अनुमान के निगमन और आगमन रूप एक दूसरे से अविभाज्यतः गुंथे हुए हैं। चार्वाक के अनुसार निगमन कुछ इस तरह का है–

सभी मनुष्य मरणशील हैं।

सुकरात मनुष्य है।

'इसलिए सुकरात मरणशील है' को नहीं स्वीकारा जा सकता है। जब तक हम यह नहीं जानते हैं कि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' और 'सुकरात मनुष्य है' सत्य है, तक हम यह नहीं कह सकते कि 'सुकरात मरणशील हैं'। आगमन में, सार्वभौमिक प्रतिज्ञप्ति विशेष प्रतिज्ञप्तियों के आधार पर प्रमाणित की जाती है। हमने केवल व्यक्ति–विशेषों अ, ब, स को मरते हुए देखा और उसके आधार पर निष्कर्ष निकाला कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। चार्वाक के अनुसार, यह अंधेरे में कूदने जैसा है। सार्वभौमिक प्रतिज्ञप्ति अवांछनीय है, क्योंकि यहाँ पर हम अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि अब तक देखे गये सभी मनुष्य मरणशील हैं। सार्वभौम निष्कर्ष निकालने का तात्पर्य है यह मानना कि भविष्य भूतकाल के समान होगा। लेकिन हमारे अनुभव में ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे सार्वभौम निष्कर्ष निगमित हो। अतः अनुमित प्रतिज्ञप्ति 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' प्रमाणिक ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि यह प्रतिज्ञप्ति ही विश्वसनीय (प्रमाणित) नहीं है तो निगमनात्मक अनुमान के लिए कोई चारा नहीं है। निगमनात्मक अनुमान के विरुद्ध, चार्वाक का दूसरा आक्षेप है कि यह 'चक्रक दोष' से ग्रसित है। जब हम कहते हैं कि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' तो उसमें (मानव होने के कारण) 'सुकरात मरणशील है' सम्मिलित है। अतः प्रतिज्ञप्ति 'सुकरात मरणशील है' हमें मूल प्रतिज्ञप्ति (सभी मनुशय मरणशील हैं) से भिन्न कोई नया ज्ञान प्रदान नहीं करती है।

चार्वाक की इस आलोचना के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' का निश्चय इस आधार पर किया जाता है कि मनुष्य और मरणशीलता के मध्य में

व्याप्ति (अविनाभाव साहचर्य) सम्बन्ध है। एक अन्य उदाहरण लेते हैं, हम यह कह सकते हैं कि "जहाँ धुंआ है, वहाँ आग है।" क्योंकि धुंआ और आग के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध है। लेकिन चार्वाक व्याप्ति स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि यह प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष योग्य सभी दृष्टांतों से परे है। सार्वभौम सत्यों का सत्यापन इसलिए संभव नहीं हो सकता क्योंकि उनका मूल प्रत्यक्षगम्य अनुभवों में नहीं है। हमारे अनुभव में ऐसा कोई आधार नहीं है जिससे हम सीमित प्रत्यक्षगत प्रसंगों से असीमित एवम् अप्रतिबन्धित सार्वभौमिक सामान्यीकरण कर सकें। अनुमान के विरूद्ध चार्वाक के तर्कों की परीक्षा के लिए और अधिक विचार करना आवश्यक है जिससे यह सिद्ध हो सके कि क्या अनुमान का पूर्णतः परिहार हो सकता है। यह स्पष्ट है कि अनुमान हमारे रोजमर्रा के ज्ञान का एक साधन है। उदाहरण के लिए, अपने सिद्धांत को समझाने के लिए जड़वादी भी भाषा का ही प्रयोग करेगा। भाषा ध्वनि का (शब्दपूर्वक) उच्चारण है। श्रोता जड़वादी द्वारा कहे गए अर्थ एवं विषय–सामग्री का (शब्दमय) ध्वनि से अनुमान करता है। यह तभी सम्भव है जब श्रोता शब्दों के अर्थ के लिए अपनी स्मृति पर विश्वास करता है। अतः चार्वाक सैद्धान्तिक रूप से ही अनुमान को नकार सकते हैं, लेकिन दैनन्दिन जीवन में समाज में अनुमान का प्रयोग किए बिना नहीं रह सकते हैं।

पुनः, चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को इसलिए प्रमाण मानते हैं क्योंकि हम पाते हैं कि अधिकांश मामलों में प्रत्यक्ष सदैव प्रमाणिक ज्ञान देता है। अब, हम स्वीकार कर लेते हैं कि प्रत्यक्ष विश्वसनीय स्रोत है, लेकिन हमारे पास यह कहने का क्या आधार है कि केवल प्रत्यक्ष ही ज्ञान का विश्वसनीय स्रोत है। चार्वाक के प्रत्यक्षसम्बन्धी विचार की सांख्य दर्शन सबसे अच्छे ढंग से आलोचना करता है। यह कहता है कि अनुमान का निषेध करने वाला कोई व्यक्ति कैसे किसी अन्य व्यक्ति के अज्ञान या संदेह या भ्रम को जान सकता है। किसी व्यक्ति में अज्ञान, संदेह और भ्रम को प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता है। व्यक्ति के व्यवहार या बातचीत से इनका अनुमान किया जा सकता है। अब हम चार्वाक कृत शब्द–प्रमाण के खण्डन पर विचार करते हैं। उनके अनुसार शब्द तभी प्रमाण हो सकता है जब वक्ता ईमानदार एवं विश्वसनीय हो। लेकिन हम यह कैसे जान सकते हैं कि वक्ता ईमानदार और विश्वसनीय है और यदि कोई ईमानदार है तो यह भविष्य में भी सदैव ईमानदार बना रहेगा? अतः, चार्वाक के अनुसार, शब्द प्रमाण नहीं है। इस प्रकार, चार्वाक के लिए शाब्दिक ज्ञान कल्पना का ही एक रूप है क्योंकि हम इस पर तभी विश्वास किया जा सकता है जब इसे प्रत्यक्षतः जान लिया जाए।

जहाँ तक शब्द–प्रमाण का सवाल है, चार्वाक वैदिक कथनों की प्रामाणिकता के खण्डन के लिए अधिक इच्छुक थे। इसलिए उसने वेदों की प्रामाणिकता का खण्डन कड़े शब्दों में किया। उसके अनुसार वैदिक कथनों में तीन दोष हैं– असत्यता, आत्म–व्याघात और पुनरुक्तता। वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का विधान ब्राह्मणों के जीविकोपार्जन का साधन मात्र हैं, उनमें कोई वैधता या सत्य नहीं है। अश्वमेध यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति की बात कही गयी है लेकिन आज तक किसी को पता नहीं है कि स्वर्ग जैसी जगह होती भी है जहाँ मृत्यु के बाद व्यक्ति जाता है। चूंकि स्वर्ग जीवन रहते किसी को आज तक नहीं मिला इसलिए यह संदेहास्पद है कि कभी किसी को मरने के बाद स्वर्ग मिलेगा। इसी प्रकार पुत्र प्राप्ति के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ किया जाता है। इसे भी सत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। कुछ मामलों में इस यज्ञ के पश्चात कभी पुत्र होता भी है तो उसका कारण यज्ञ न होकर कुछ अन्य होता है। यह यह निश्चित है कि प्रत्येक यज्ञकर्ता पुत्र प्राप्त नहीं करता है। इन कथनों को अर्थ प्रदान करने के संदर्भ में पारम्परिक उक्तियां (ऐतिह्य) कहा जा सकता है;

न कि प्रमाण। किसी भी कथन की सत्यता उसके द्वारा संदर्भित वस्तु की प्रत्यक्ष उपलब्धि से सिद्ध होती है। वेदों द्वारा व्यक्त सत्यों का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। अतः वेदों, जो अतीन्द्रिय सत्ताओं के बारे में बताते हैं, उनकी सत्यता को किसी भी प्रकार से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। चार्वाक का मानना है कि कोई भी कथन स्वतः प्रमाण्य नहीं होता है।

अनुमान और शब्द–प्रमाण की अवैधतता दिखलाने के पश्चात् चार्वाक–दार्शनिक मीमांसा दर्शन के द्वारा स्वीकृत ज्ञान के अन्य प्रमाणों के सन्दर्भ में दिखलाते हैं कि ये भी अवैध हैं। ये कहते हैं कि अर्थापत्ति के द्वारा प्राप्त ज्ञान कल्पना की श्रेणी का ज्ञान है। अर्थापत्ति उन्हीं के लिये ज्ञान का प्रमाण हो सकता है जो पहले से यह जानते रहे हों कि कुछ निश्चित स्वीकृत अर्थों को किन्हीं अन्य दूसरे माध्यम से अप्रमाणित नहीं किया जा सकता। ऐसे मामलों में स्वयं ज्ञाता को पता होता है कि उसका ज्ञान कल्पित ज्ञान है। यह (ज्ञान), 'मैं कल्पना करता हूँ' के रूपवाला है।

मीमांसकों के अनुसार जब यज्ञ कर्म किया जाता है तो उसके करने वाले को एक अदृष्ट या अपूर्व की प्राप्ति होती है। इस अदृष्ट की सत्ता अर्थापत्ति से सिद्ध होती है। दूसरे शब्दों में यज्ञ–क्रिया थोड़े समय में समाप्त हो जाएगी, परन्तु इससे उत्पन्न धर्म या अपूर्व स्वर्ग–प्राप्ति (इच्छित वस्तु की प्राप्ति) तक समाप्त नहीं होता। इस प्रकार का ज्ञान अर्थापत्ति से प्राप्त है। चार्वाक का प्रश्न है कि क्या इसे वैध कहा जा सकता है। उनका मानना है कि यह ऐतिह्य है, जोकि कोरी कल्पना है।

जहाँ तक अभाव का प्रश्न है इसका ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से माना जाता है। चार्वाक के मत में अभाव पूर्णतः असत् है। इसलिए, इस मत में, अभाव का ज्ञान कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस प्रकार चार्वाक मत में अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण नहीं स्वीकारे गये हैं। व्याघात से मुक्त प्रत्यक्ष एकमात्र प्रमाण है।

चार्वाक मन को पंच ज्ञानेन्द्रियों से पृथक नहीं मानते हैं। न्याय–वैशेषिक दर्शन सुख–दुःख के अनुभव के लिए मन को एक पृथक इन्द्रिय मानता है। चार्वाक के अनुसार, मन नाम की कोई इन्द्रिय नहीं है। अतः कड़े शब्दों में कहें तो मानस–प्रत्यक्ष (संवेदना) नहीं है। ये संवेदना की व्याख्या निम्नांकित प्रकार से करते हैं– त्वचा शरीर के अंदर और बाहर दोनों ओर समानरूप से उपस्थित है। अतः जो त्वचा का भाग आन्तरिक है वही मन या अन्तःइन्द्रिय है। चार्वाक का मत है कि इसी इन्द्रिय के कारण सुख–दुःख का बोध होता है। कई मामलों में सुख या दुःख स्पर्श के एक विशिष्ट प्रकार के अनुभव से उत्पन्न होता है और इसका आश्रय आन्तरिक त्वचा है। दूसरे शब्दों में, सुख एक प्रकार का स्पर्शात्मक बोध है। ठीक उसी प्रकार दुःख भी स्पर्शात्मक बोध है। इसी प्रकार इच्छा और द्वेश भी ज्ञान के प्रकार हैं। जब हम यह महसूस करते हैं कि अमुक साधन हमारी इच्छाओं की पूर्ति करेगा, तो हमारी इच्छा पूर्ति हो जाती हैय जैसे कि इष्ट–साधन से इच्छित फल प्राप्त होता है। जो हमारे लिए हानिप्रद है उसके लिए हम द्वेश करते हैं। इन सब का आधार भी इन्द्रियां ही हैं। इसी प्रकार पुनःस्मरण (प्रत्यभिज्ञा) भी इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होता है। इसका कारण कभी कोई अज्ञात विषय नहीं होता। बहुत से भौतिक संयेगों के कारण मानव भूतकाल में अनुभूत वस्तुओं का स्मरण करता है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि यह एक सामान्य नियम है, कि एक विशेष प्रकार की येदना से एक विशेष प्रकार की वस्तु का ही पुनर्स्मरण होगा। यहाँ कारण–कार्य सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की येदना बहुत सारे प्रत्ययों पर निर्भर करती है। इसलिए येदना और अनुस्मरण में किसी प्रकार का कारण–कार्य संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता।

14.7 चार्वाक की भ्रम–विषयक दृष्टि

भ्रम के विषय में चार्वाक असत्खाति का आलम्बन लेते हैं। जब शुक्ति (सीप) को रजत (चांदी) के रूप में देखते हैं तो भ्रम होता है। प्रकाश के अभाव और दूरी के चलते शुक्ति के स्थान पर रजत दिखाई देता है जो वास्तव में वहाँ नहीं होता। जैसे चलती हुई ट्रेन में एक आदमी जब बराबर में लगे प्रकाश–स्तंभ और पेड़ को देखता है तो उसे लगता है कि ये समान गति से चल रहे हैं। यहाँ पर केवल सम्बन्ध मिथ्या है विषय नहीं। अर्थात् यहाँ गति ट्रेन से संबंधित है न कि प्रकाश–स्तंभ या पेडों से। भ्रमित व्यक्ति गति को वस्तुओं के साथ जोड़कर देखते हैं, जो वास्तविक है परंतु स्थिर है। इसलिए यहाँ केवल सम्बन्ध को गलत ढंग से प्रत्यक्ष किया गया है।

14.8 जीवन–दृष्टि

चार्वाक किसी प्रकार के आध्यात्मिक मूल्य मे विश्वास नहीं करते हैं। यह चार पुरूषार्थों में से दो 'धर्म और मोक्ष' का खण्डन करते हैं। अतः मानव को केवल दो पुरुषार्थों 'अर्थ' और 'काम' के लिए प्रयास करना चाहिए। चार्वाक का मत सुखवादी है। चार्वाक यह जानते हैं कि सुख का दुःख के साथ सम्बन्ध है। लेकिन उनका कहना है कि कोई अनाज को इसलिए नहीं फेंकता है कि इसमें भूसा है, कोई फूल को इसलिए नहीं तोड़ना बंद कर देता है कि उसमें कांटा है, कोई मछली को इसलिए नहीं खाना बंद कर देता है कि इसके हड्डी और कांटे हैं। पत्नी या संतान पृथ्वी पर स्वर्ग रचते हैं, और उनके वियोग से दुःख है। लेकिन जिसके जीवन में प्यार नहीं है, सुख नहीं है, यह सर्वथा दुःखी है और नीरस है। चार्वाक स्वीकारते हैं कि दुःख सर्वत्र है, चाहे राजमहल हो और चाहे भिक्षुक की झोपड़ी। फिर भी यह संसार केवल दुःखों से ओत–प्रोत नहीं है। सुख दुःख से ज्यादा है। यदि ऐसा नहीं होता तो लोग जीने की चाह में मृत्यु से क्यों भयभीत रहते। हमें सुख को अपनाना चाहिए और दुःख को दूर रखना चाहिए। दुःख के भय से सुख को नहीं छोड़ना चाहिए। चार्वाक के अनुसार जीवन का उद्देश्य अधिकतम सुख की प्राप्ति है। यही सच्चा व्यापार है जिससे हम सुखी हो सकते हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि चार्वाक का दृष्टिकोण मानवीय सारतत्त्व या लक्ष्य के विरुद्ध है। ये कहते हैं कि धर्म के बिना कोई प्रणाली मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं है। यह सम्भव है कि ये सही हों। लेकिन हम यह सकते हैं कि चार्वाक दर्शन नीति–दर्शन का नया ढंग या नया आधार रचना चाहते हों। चार्वाक पशु–बलि और यज्ञ (इस आधार पर कि यज्ञ किसी की स्वार्थ–सिद्धि के लिए हैं) की निंदा करते हैं। यह निंदा चार्वाक के नीतिमीमांसीय प्रणाली के आधार को समझने में सहायक हो सकती है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत मे दिए गए उत्तरों स अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. चार्वाक का तत्वमीमांसीय मत क्या है?

.....

.....

.....

2. चार्वाक ईश्वर की विवेचना का खण्डन क्यों करते हैं?

3. चार्वाक के अनुसार भ्रम की व्याख्या कीजिए।

14.9 सारांश

यह कहा जा सकता है कि चार्वाक का जड़वाद प्राचीन काल में प्रचलित सन्यासवाद और संशयवाद के नाम पर अकर्मण्यता से छुटकारा पाने का एक प्रयास था। यह विचारों की स्वतंत्रता को स्थान देता है। जब हम भारतीय दर्शन के इतिहास में स्वतंत्र विचारों की परम्परा का अवलोकन करते हैं तो हमें आश्चर्य होता है कि क्या वास्तव में चार्वाक ने अनुमान और नीतिशास्त्र को अपने दर्शन में उचित स्थान नहीं दिया। सम्भवतः चार्वाक ने केवल उन्हीं अनुमानों को नकारा जिनके आधार पर अन्य दार्शनिक ईश्वर, आत्म, पुर्नजन्म आदि को स्थापित करते थे। नैतिक मूल्यों की बात करें तो क्या इस पर विश्वास किया जा सकता है कि बृहस्पति जैस उच्च कोटि के गुरु ने कुछ निश्चित आधारभूत मानव मूल्यों को स्वीकार न करते हुए मानव के लिये पाश्विक जीवन का समर्थन किया? हमारा चार्वाक के विषय में ज्ञान उसके विपक्षी दार्शनिकों की सूचनाओं पर आधारित है। जिनका एक मात्र उद्देश्य उसके विचारों को घटिया एवं निम्न स्तर का सिद्ध करना प्रतीत होता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि चार्वाक के विषय में हमारा दृष्टिकोण तटस्थ है। इन परिस्थितियों में, यह सही में एक कौतुहल का विषय है कि क्या चार्वाक ने वास्तव में स्थूल सुखवाद– खाओ पीओ ओर मौज करो को प्रोत्साहित किया था।

14.10 कुंजी शब्द

सुखवाद : यह दर्शन जो यह मानता है सुख एक परम महत्व वाला है और मानव का प्रमुखतम उद्देश्य सुखप्राप्ति है।

व्यंग–चित्र : एक व्यंग–चित्र उस चित्रण को संदर्भित करता है जो आसानी से पहचाने जाने वाली दृश्यात्मक समानताओं को रचने के लिए किसी व्यक्ति या वस्तु का के सार (प्रकृति) का अतिरंजन या विरूपण करता है।

14.11 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

कॉवेल इ. बी. ट्रान्स, *माधवाचार्य सर्वदर्शनसंग्रह.* लंदनः केगेन पाल ट्रेन्च ट्रुबनर एण्ड कम्पनी, 1914.

चटर्जी, सतीशचन्द्र एवं धीरेन्द्रमोहन दत्त. *एन इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन फिलोसॉफी.* न्यू देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 2015.

चट्टोपाध्याय, देबीप्रसाद. *इण्डियन फिलोसॉफीः अ पॉपुलर इन्ट्रोडक्शन.* न्यू देल्हीः पीपल्स पब्लिशिंग हाऊस, 1964.

चट्टोपाध्याय, देबीप्रसाद. *लोकायत.* न्यू देल्हीः पीपल्स पब्लिशिंग हाऊस, 1959.

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* ट्रान्स्लेटिड बाइ कॉवेल, ई. बी. लन्दनः केगन पॉल ट्रेन्च, ट्रुब्नर एण्ड कं., 1914.

राधाकृष्णन् एस. *इण्डियन फिलोसॉफी,* वो. 1. लन्दनः जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन लि., 1948.

रंगाचार्य, एम. *सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह.* मद्रासः मद्रास गवर्नमेन्ट प्रेस, 1909.

लेन्ग, एफ.ए., *द हिस्ट्री ऑफ मेटिरियलिज्म्* न्यूयॉर्कः ई. सी. थॉमस ब्रेस एण्ड कम्पनी, 1925.

शास्त्री, डी.आर. *ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मैटियलिज्मः संसेशनलिज्म एंड हिडोनिज्म.* कलकत्ताः कलकत्ता बुक कम्पनी, 1930

संघवी, सुखलालजी, पारिख रसिकलाल सी. (ए.) *तत्त्वोपप्लवसिंह ऑफ श्री जयराशि भट्ट.* एडिटिड विद् एन इन्ट्रोडक्शन एण्ड इन्डिसेज. गायकवाड़ ऑरियन्टल सीरीज 87, ऑरियन्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा 1940, रिप्रिन्टिड बौद्ध भारती सीरीज 20, वाराणसी 1987.

हिरियण्णा, एम. *आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलोसॉफी.* लन्दनः जार्ज एलन एण्ड अनविन लि., 1932.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

जयराशिभट्ट. *तत्त्वोपप्लवसिंह.* अनुवाद– काशीनाथ न्यौपाने एवं अम्बिकादत्त शर्मा. दिल्लीः डी के प्रिंट वर्ल्ड, 2015.

झा, आनन्द. चार्वाक दर्शन. लखनऊः उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 2013.

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

14.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. लोकवादी होने के कारण चार्वाक यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। इसलिए जो भी दिखाई देता है यही ज्ञान का विषय है, जो नहीं दिखाई देता है यह कल्पना है। अंतः जड़ की एकमात्र तत्व है तथा जगत् चार जड़ तत्वों; पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु से बना है। ये आकाश को पंचम भूत नहीं मानते हैं। जडं तत्व वस्तु जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों है। जड़ सदा से विद्यमान है एवं सदा विद्यमान रहेगा।

2. चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। चार्वाक किसी परासत्ता को नहीं मानते हैं। ये न तो सृष्टिकर्ता ईश्वर को मानते हैं और न ही किसी ऐसी अंतः चेतना को मानते हैं जो समस्त मनुष्यों की पथ प्रदर्शक है। भारतीय दर्शन के अन्य सभी सम्प्रदाय पुनर्जन्म तथा मृत्यु के बाद के जीवन को मानते हैं। लेकिन चार्वाक मृत्यु के बाद किसी ऐसे जीवन का खण्डन करते हैं जहाँ मनुष्य को शुभ कर्मों के लिए पुरस्कृत तथा अशुभ कर्मों के लिए दण्डित किया जाता है। चार्वाक उच्च आध्यात्मिक जीवन का खण्डन करते हैं तथा कहते हैं कि मानव इस जगत् में इन्द्रिय सुख भोगने के लिए है। उनका कहना है कि प्रकृति शुभ ओर अशुभ में भेद नहीं करती है। सूर्य शुभकर्ता और अशुभ कर्ता दोनों पर एक समान प्रकाश डालता है। चार्वाक कहते हैं कि मनुष्य देवताओं में अपनी दुर्बलता के कारण विश्वास करता है। स्वर्ग–नरक नहीं है, मात्र यही जगत् है जहाँ हम रहते हैं।

3. चार्वाक भ्रमात्मक ज्ञान को असत् ख्याति के आधार पर स्पष्ट करते हैं। असत् ख्याति में शुक्ति का रजत के रूप में भ्रामक ज्ञान होता है एवं यही भ्रम है। अपर्याप्त प्रकाश ओर अपर्याप्त दूरी के कारण असत् वस्तु सत् प्रतीत होती है। परंतु भ्रम के कुछ अन्य मामलों में जो दिखता है यह असत् नहीं होता है। जैसे कोई मनुष्य यदि चलती ट्रेन में हैं तो उसे बाहर स्थित प्रकाश–स्तम्भ असत् नहीं होता है। जैसे कोई मनुष्य यदि चलती ट्रेन में है तो उसे बाहर स्थिर प्रकाश–स्तम्भ और पेड़ भी समान गति से चलते हुए दिखाई पड़ते हैं। यहाँ अकेला सम्बन्ध ही भ्रमात्मक होता है वस्तु भ्रमात्मक नहीं होती। गति का संबंध ट्रेन से होता है, वस्तु और पेड़ से नहीं। जो मनुष्य भ्रम में है यह गति को उन वस्तुओं से जोड़कर देखता है जो स्थिर हैं। अतः यहाँ पर केवल सम्बन्ध का ही भ्रमात्मक प्रत्यक्ष है।

इकाई 15 जैन दर्शन[15]

रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 परिचय

15.2 तत्वमीमांसा

15.3 जैन प्रमाण मीमांसा

15.4 प्रमाण

15.5 सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष

15.6 अनुमान

15.7 आगम (श्रुत ज्ञान)

15.8 जैन आचार दर्शन

15.9 सारांश

15.10 कुंजी शब्द

15.11 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

15.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

नास्तिक दर्शनों में जैन दर्शन अत्यंत प्राचीन है। इसके प्रवर्त्तक वर्धमान (महावीर) थे। यह दर्शन जगत् की यर्थाथता में विश्वास करता है। इस दर्शन का स्थान अद्वितीय है। यह जीवन को जीने के लिए एक नया मार्ग बताता है तथा ऐसे मार्गों को भी बताता है जिससे जीवन की समस्याओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

इस इकाई के अंत में आप जैन दर्शन के निम्नांकित तथ्यों से अवगत होंगे:

- इस दार्शनिक तन्त्र की तत्वमीमांसीय और प्रमाणमीमांसीय स्थितियों में भेद से
- ज्ञान के विभिन्न स्त्रोतों से
- अनुमान और शब्दों से
- आचार दर्शन से

[15] प्रो. सुधा गोपीनाथ, कोसमंगलम, बैंगलोर, अनुवाद– प्रो. ए के राई, बीएचयू, वाराणसी

15.1 परिचय

जैन दर्शन नास्तिक दर्शनों में सबसे पुराना है तथा वेदों की शिक्षाओं का खण्डन करता है। 'जैन' शब्द की व्युत्पति 'जिन' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है– विजयी, अर्थात जिसने अपनी इच्छाओं और भावनाओं पर विजय प्राप्त कर ली हो। इस दर्शन का प्रारम्भ उत्तर वैदिक युग में हुआ तथा वर्धमान, जिनको महावीर भी कहा जाता है, ने छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व में इसे समृद्ध किया। वर्धमान अन्तिम तीर्थंकर थे। वर्धमान के पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके थे। इस परम्परा का प्रारम्भ ऋषभदेव से माना जाता है।

वर्धमान का जन्म उत्तरी बिहार एक राजपरिवार में 540 ईसा पूर्व में हुआ था। तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने भौतिक सुख–सुविधाओं का त्याग करके कठोर तप किया। तेरह वर्ष के कठोर तप के बाद उन्हें 'जिनत्व' की प्राप्ति हुई। इस जिन या विजयी शब्द से जैन दर्शन की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार महावीर जैन परम्परा के चौबीसवें तीर्थंकर बने।

जैन दर्शन, बौद्ध और चार्वाक की तरह, वेदों के प्रमाण में विश्वास नहीं करता है। ये तीनों नास्तिक दर्शन इस अर्थ में भी समान हैं कि ये एक परम ईश्वर में विश्वास नहीं करते लेकिन जैन दर्शन, चार्वाक और बौद्ध दर्शन की तरह, अनात्मवादी नहीं है। यह शाश्वत सत्ताओं जैसे जीव और जड़ तत्व मे विश्वास करता है और इस कारण से यह ब्राह्मण परम्परा और बौद्ध परम्परा के मध्य सेतु का कार्य करता है।

15.2 तत्त्वमीमांसा

जैन दर्शन का विशेष गुण यह है कि यह नित्य स्वतन्त्र तत्त्वों में विश्वास करता है जिन्हें जीव और अजीव कहा जाता है। यहाँ जीव का अर्थ प्राणियों की आत्मा (जीवात्मा) से है, सर्वव्यापक आत्मा से नहीं (जैसा कि उपनिषदों में बताया गया है)। जैन दर्शन के अनुसार, जीव अनेक हैं और अनेक जड़ वस्तुओं में भी आत्मा पाई जाती है। जैन धर्म का सबसे कौतुहलपूर्ण विचार यह है कि जीव का आकार परिवर्तनशील होता है। जिस प्रकार का शरीर होता है उसी प्रकार का जीव का आकार हो जाता है। अतः इसमें संकुचन और विस्तार की क्षमता होती है। जीवों की गणना व्यवहारतः एक इन्द्रिय, द्विन्द्रिय और आगे इसी ढंग के आधार पर की जाती है। जैनों के अनुसार जीव भोक्ता तथा कर्ता है। जीव का स्वरूपधर्म अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य है, लेकिन ये ढंके होते हैं, पर नष्ट नहीं होते (जीव को बन्धन के कारण अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है)। जीवों के स्तर का निर्धारण जड़तत्त्व (पुद्गल) के साथ उनके सम्बन्धों के आधार पर होता है। जैन दर्शन में कर्म को भी जड़ का सूक्ष्म रूप माना गया है और इसकी उपस्थिति जीव के बंधन के कारणरूप में स्वीकार की गयी है।

चेतना, जैन मत के अनुसार, जीव का लक्षण (सार; स्वरूपधर्म) है। अजैविकीय शरीर में, चेतना का स्वरूप सुप्त रहता है जबकि जैविकीय शरीर में यह क्रियाशील रहता है। ज्ञान जीव का गुण है तथा जीव प्रत्यक्ष, भावना इत्यादि का अनुभव करता है। जैन आत्मा के अस्तित्व को अहंप्रत्यय के आधार पर सिद्ध करते हैं। जब हम कहते हैं कि 'मैंने किया था, मैं कर रहा हूँ और मैं करूंगा, तो इसमें अहं प्रत्ययात्मक चेतना प्रदर्शित होती है। जैन दर्शन के अनुसार सन्देह करने के लिए सन्देहकर्ता की मान्यता आवश्यक है। सन्देहकर्ता जीव या आत्मा है। पुनः जैन दर्शन कहता है कि चेतना जड़ शरीर का लक्षण नहीं हो सकती

क्योंकि जड़ में आकार और रूप होता है तथा पौद्गलिक रूप में इसमें संकल्प एवं संवेदना आदि रहते हैं। इसी प्रकार, जड़ शरीर चेतना का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि सुप्तावस्था में और मृत्यु के समय शरीर के रहने पर भी प्रत्यक्ष, स्मृति इत्यादि का अभाव होता है।

जीव के जड़ से सम्बन्ध के आधार पर जैनों के ज्ञान सम्बन्धी विचार की व्याख्या होती है। ज्ञान जीव का लक्षण नहीं बल्कि सार है। यह मात्र एक गुण नहीं है। अतः यदि मार्ग में कोई बाधा नहीं हो तो जीव किसी वस्तु का बिना किसी माध्यम के साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में, सभी ज्ञान जीव में है लेकिन इसका उद्घाटन तभी होता है जब बाधक तत्त्व का लोप हो जाता है। जीव का ज्ञान अपूर्ण अथवा आंशिक होता है क्योंकि कर्म बाधा उत्पन्न करते हैं, जिससे जीव के प्रत्यक्ष करने की शक्ति में हस्तक्षेप होता है। उन्हीं के कारण प्रत्यक्ष पूर्ण ज्ञान नहीं देता है। वासना, भावना आदि इसमें बाधक तत्त्व हैं। जैन, इस प्रकार, प्रबोधन की मात्रा में अंतर को स्वीकार करते हैं। इसका निर्धारण कर्म–मलों के शिथिल से होने से होता है। जीव मुक्तावस्था के जितना ही समीप होता है उतना ही उसके कर्मबन्धन शिथिल रहते हैं। लेकिन किसी भी जीव में ज्ञान अनुपस्थित नहीं रहता है। ज्ञान के बिना जीव नहीं होता है ओर जीव के बिना ज्ञान नहीं होता है। पूर्ण मोक्ष की अवस्था में सारे बाधक तत्त्व विनष्ट हो जाते हैं। यह 'केवल–ज्ञान' की अवस्था है जहाँ व्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता है। यह शुद्ध ज्ञान है। यह साक्षात ज्ञान है। यह इन्द्रिय, मन इत्यादि की सहायता के बिना प्राप्त किया जाता है। अतः, जैन दर्शन के अनुसार, इन्द्रिय और मन ज्ञान में व्यावहारिक अथवा अनुभवात्मक दृष्टि से सहायक हैं, लेकिन जड़ात्मक होने के कारण 'केवल ज्ञान' में बाधक हैं।

जैनों की प्रमाण मीमांसा के अनुसार ज्ञान वस्तु को निर्मित नहीं करता है अपितु प्रकाशित करता है। चेतना क्रियाशील रहती है और इस क्रियाशीलता के फलस्वरूप यह जीव के स्वरूप और वस्तु के स्वरूप को उद्घाटित करती है। जैसे प्रकाश अपने को और वस्तु को प्रकाशित करता है ठीक उसी प्रकार ज्ञान की स्थिति है। किसी वस्तु के ज्ञान में जीव स्वयं अपने आप को जानता है। यदि जीव स्वयं को नहीं जाने तो कोई दूसरा उसे स्वयं उसका बोध नहीं करा सकता है।

चैतन्य, जो कि जीव का सार है, की दो अभिव्यक्तियाँ हैं– 1. दर्शन या अन्तर्बोध 2. ज्ञान। दर्शन में वस्तु का विस्तृत ब्यौरा प्राप्त नहीं होता, जबकि ज्ञान में होता है। दर्शन केवल ग्रहण है जबकि ज्ञान अवधारणात्मक ज्ञान है। अन्तर्बोध में विस्तृत जानकारी नहीं होती किन्तु ज्ञान में होती है। पूर्णता की अवस्था जिसे 'केवल ज्ञान' कहते हैं, में दर्शन और ज्ञान साथ–साथ रहते हैं। यह ज्ञान पूर्ण रूप से संदेह या अनिश्चितता से परे होता है।

जीव के अतिरिक्त जगत् की अन्य चिरस्थायी कोटि है– अजीव। जैनों के अनुसार, जगत् का विभाजन दो नित्य असृजित सहअस्तित्ववान, स्वतंत्र पदार्थों मे किया जा सकता है, जिन्हें जीव और अजीव कहा जाता है। जिसमें चेतना होती है, वह जीव है। जिसमें चेतना नहीं होती, परन्तु जिसका इन्द्रिय–प्रत्यक्ष हो सकता है, वह अजीव है। जीव और अजीव आत्म और अनात्म के समरूप नहीं हैं, बल्कि यह ब्रह्माण्ड की वस्तुओं का वस्तुपरक वर्गीकरण है। इससे जैनों की यथार्थवादी ओर सापेक्षतावादी दृष्टि का परिचय मिलता है। अजीव के अन्तर्गत् पांच तत्त्व आते हैं– पुद्गल (जड़–तत्व), धर्म (गति), अधर्म (स्थिति), आकाश और काल। इसमें काल अनस्तिकाय तथा बाकी सभी अस्तिकाय हैं। जीव से इनका प्रमुख अंतर यह है कि इनमें जीवन और चेतना का अभाव होता है।

पुद्गल जड़ तत्त्व को कहते हैं। इसमें रंग, गन्ध, स्वाद और स्पर्श रहता है। शब्द इसका गुण नहीं है अपितु पर्याय है। जड़ तत्त्व असृजित, अपृथक्करणीय और सत् है। जड़तत्त्व नित्य है तथा मन से स्वतन्त्र इसकी सत्ता है। पुद्गल की परिभाषा देते हुए यह कहा गया है, 'जिसका पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव किया जा सके यह पुद्गल है"। द्वितीय परिभाषा में पुद्गल शब्द की व्युत्पति का सहारा लिया गया है। पुद् का अर्थ 'संयुक्त होना' और गल का अर्थ 'वियुक्त होना है'। जिसमें यह दोनों क्षमता होती है, यह पुद्गल है। यह परिभाषा जैनों के अणुवादी सिद्धांत की तरफ संकेत करती है। 'अणु' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में भी है, परन्तु वहाँ परमाणु सिद्धान्त की व्यवस्थित चर्चा नहीं की गई है। हम कह सकते हैं कि जैनों का परमाणु सिद्धान्त सबसे पुराना है। जड़ का सूक्ष्म रूप अणु अथवा परमाणु के रूप में है। सभी अणु एक ही प्रकार के होते हैं लेकिन उनके द्वारा अनेक प्रकार की वस्तुएं उत्पन्न हो जाती हैं। यहाँ तक कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सभी को अणुओं में विभाजित किया जा सकता है। जिनकी एक संरचना होती है। स्वाद, गन्ध आदि के गुणों के कारण परमाणुओं में विविधता आ जाती है और इस प्रकार जड़ जगत् भी विविध रूपों वाला हो जाता है, परन्तु गुणात्मक रूप से परमाणु एक–दूसरे से भिन्न नहीं होते हैं। इसलिए जड़ तत्त्व के दो रूप हैं– एक 'आण्विक' अथवा सरल ओर दूसरा यौगिक अथवा स्कन्ध। सारी प्रत्यक्षमूलक वस्तुएं स्कन्धात्मक हैं। छः प्रकार के स्कन्धों की गणना की गई है।

स्थूल (भद्र)– स्थूल (भद्र)– इस प्रकार के स्कन्ध में विभाजन हो सकता है लेकिन पुनः उन्हें जोड़ा नहीं जा सकता जैसे– ठोस।

स्थूल (भद्र)– इस प्रकार के स्कन्ध विभाजित होने पर पुनः जुट जाते हैं जैसे द्रव।

स्थूल (भद्र)– सूक्ष्म– इस प्रकार के स्कन्ध प्रतीत होते हैं लेकिन सूक्ष्म होते हैं। इनका न विभाजन किया जा सकता है न इनमें छिद किया जा सकता है। जैसे– सूर्य, तत्त्व, छाया, प्रकाश आदि। इनके सूक्ष्म कण इन्द्रिग्राह्य होते हैं।

सूक्ष्म–स्थूल– इस प्रकार के स्कन्ध सूक्ष्म प्रतीत होते हैं लेकिन स्थूल होते हैं जैसे–रंग, रूप और ध्वनि का संवेदन।

सूक्ष्म– इस प्रकार स्कन्ध अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और सामान्यतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष के परे होते हैं। यह इस सूक्ष्म रूप में जड़तत्व ही है जो कर्म को उत्पन्न करता है, जो जीव में प्रवेश करके संसार अथवा बन्धन का कारण बनता है।

सूक्ष्म–सूक्ष्म– ये सूक्ष्म स्कन्ध से भी अधिक सूक्ष्म होते हैं।

इस प्रकार जैनों के आण्विक सिद्धांत से यह स्पष्ट है कि उनका सत् विचार है– एकरूपता और परिवर्तन। जैन मतानुसार परिवर्तनों को भोगना एवं फिर भी स्थिर रहना अस्तित्व की विशेषता है। अस्तित्व का अर्थ है परिवर्तनों के मध्य स्थिर रहना। परिवर्तनशील तत्व को पर्याय कहा जाता है। पर्याय उत्पन्न होते हैं, और कम से कम एक क्षण अस्तित्वमान रहते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं। अस्तित्व आण्विक संयोग के विभिन्न पर्यायों का परिणाम है। सभी परिवर्तनों के मध्य परम् घटक अर्थात परमाणु तद्रूप (तत् रूप; जैसा है उसी रूप में) रहते हैं। इस प्रकार, परमाणुओं मे हम 'एकरूपता के तत्व' को पाते हैं, जबकि अणुओं के रूप में उनके संयोग तथा पुनः परमाणुओं के रूप में विभाग में हम 'परिवर्तन के तत्व' को पाते हैं। सत् का रूप ऐसा है कि उसमें एक स्थाई कारक है जबकि साथ ही साथ परिवर्तन भी है यह परिवर्तन भी वास्तविक है। अतः जैन दर्शन के अनुसार तत्व वास्तव में एकता में अनेकता है।

किसी भी वस्तु के अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं तथा यह अनेक परिवर्तनों से गुजरती है। जैसे मिट्टी अनेक आकार ग्रहण कर सकती है। उपनिषदों के अनुसार, क्योंकि सारे परिवर्तनों के बाद भी मिट्टी स्थाई रूप से विद्यमान रहती है। अतः यही एक मात्र सत् है। आकार एवं स्थिति में परिवर्तन अभ्यास मात्र है। इनके स्वरूप को बौद्धिक रूप से नहीं समझाया जा सकता। उपनिषदों के अनुसार, अपरिवर्तनशील पदार्थ ही सत् है और परिवर्तनशील रूप इन्द्रियों के भ्रम मात्र हैं।

दूसरी ओर बौद्ध दर्शन के अनुसार, परिवर्तनशील धर्मों का ही प्रत्यक्ष हो सकता है और इसके पीछे कोई अपरिवर्तनशील तत्व नहीं होता है। बौद्ध दर्शन कहता है कि हम जो मिट्टी के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं यह कोई विशिष्ट गुण अथवा धर्म ही है और हम जो घड़े के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं यह भी कोई गुण अथवा धर्म ही है। बौद्धों के अनुसार, गुण अथवा धर्म यह आशय व्यक्त नहीं करते कि कोई द्रव्य है जिसमें ये रहते हैं। द्रव्यों का हम न तो प्रत्यक्ष कर सकते हैं और न अनुमान ही। उपनिषदों और बौद्धों के मतों के विपरीत, जैन दर्शन का मानना है कि सत् का स्वरूप नित्य और परिवर्तनशील दोनों होता है। जैनों का दावा है कि एक ही सत् में दो परस्पर–व्याघाती लक्षण होते हैं और ऐसा अनुभव–सिद्ध है। इसलिए जैनों के अनुसार, *उपनिषद्* और बौद्धों के मत में ऐकान्तिक सत्यता है। सभी प्रकार के अनुभव के तीन आयाम होते हैं, (1) कुछ धर्म परिवर्तनशील होते हैं, (2) कुछ नये धर्म उत्पन्न होते हैं, (3) कुछ पुराने धर्म नष्ट हो जाते हैं। जो अपरिवर्तनशील है यह द्रव्य है। यह सत्य है कि वस्तुओं के गुण परिवर्तनशील होते हैं परन्तु सभी गुण परिवर्तनशील नहीं होते हैं।

अतएव, किसी एक घड़े के निर्माण का अर्थ है कि मिट्टी का पिण्ड नष्ट हो गया एवं एक घड़े का निर्माण हो गया। मिट्टी तो स्वयं नित्य है ही। इस प्रकार, जहाँ (द्रव्य) मिट्टी का किसी आकार में नाश हुआ वहीं किसी अन्य रूप में निर्माण हुआ तथा पुनः किसी अन्य रूप (द्रव्य) में यह नित्य अथवा स्थाई रहा। इन तीन स्थाई गुणों के कारण ही परिवर्तन के बाद भी कोई वस्तु स्थिर बनी रहती है। इसी वस्तु को हम द्रव्य कहते हैं। यह वस्तु वास्तव मे अपरिवर्तनशीलता की दृष्टि से द्रव्य है तथा परिवर्तनशीलता की दृष्टि से पर्याय है। अतः तत्त्व अनैकान्तिक है यह नित्य भी है और अनित्य भी है। यह परिवर्तनशील भी है और अपरिवर्तनशील भी है।

पुद्गल के स्वरूप के विवेचनोपरान्त अजीव के अन्तर्गत् आने वाले काल, आकाश, धर्म और अधर्म का विवेचन आवश्यक है। काल अनन्त है लेकिन यह आरोहात्मक और अवरोहात्मक होता है। दोनों के दो बराबर भाग होते हैं जिन्हें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कहते हैं। अवसर्पिणी क्रम ह्रास का काल होता है, जिसमें सदगुणों का क्रमशः पतन होता है। उत्सर्पिणी क्रम उत्थान का काल होता है, जिसमें सद्गुणों का क्रमशः उत्थान होता है। जैनों के अनुसार, वर्तमान युग अवसर्पिणी का समय है। जहाँ सद्गुणों का क्रमशः ह्रास अथवा पतन हो रहा है। आकाश भी अनन्त है तथा इसके दो भाग हैं– लोकाकाश तथा अलोकाकाश। लोकाकाश में गति होती है तथा आलोकाकाश में गति नहीं होती है। जो कुछ भी अस्तित्ववान होता है यह लोकाकाश में ही अस्तित्ववान होता है (जड़ द्रव्य की तरह)। जगत् कोई अव्यवस्थित सृष्टि नहीं है। इसका एक नियम है। अतः इसकी गति और स्थिति का भी नियम है। धर्म गति का नियम है जबकि अधर्म स्थिति का नियम है। ये दोनों सिद्धांत अक्रियाशील, अभौतिक, अपरमाण्विक हैं। धर्म और अधर्म गति तथा स्थिति को निर्धारित करने वाले तटस्थ कारक हैं। ये गति और स्थिति उत्पन्न करने वाले बल हैं। आकाश सबको स्थान देता है। धर्म गति का सिद्धांत है। यह गति को निर्मित नहीं करता है, लेकिन जो चीजें गति कर सकती हैं, उनके चलने में सहायक होता है। इसी प्रकार अधर्म

भी वस्तुओं में स्थिति प्रदान नहीं करता है अपितु जो स्थिर हो सकते हैं, उनको स्थिति प्रदान करता है। धर्म और अधर्म मे कोई एकसमान गुण नहीं होते हैं। आनुभाविक रूप से यह माना गया कि दोनों मे कुछ प्रदेश (दिक) रहते हैं, परन्तु पारमार्थिक रूप से यह माना जाता है कि दोनों में केवल एक–एक प्रदेश रहता है। ये जगत् की क्रमबद्ध दृष्टि के लिए उत्तरदायी हैं।

15.3 जैन प्रमाण मीमांसा

जैनों के अनुसार, ज्ञान के दो रूप हैं– प्रमाण और नय। प्रमाण में वस्तु जैसी है वैसी जानी जाती है, जबकि 'नय' के माध्यम से वस्तु का इसके संबंधों में बोध होता है। 'नय सिद्धांत' जैन तर्कशास्त्र की अपनी विशेषता है। नय दृष्टि से वस्तु के विषय में हम एकांश कथन करते हैं। एक दृष्टि से जो सत्य है दूसरी दृष्टि से यह असत्य हो सकता है। अतः ज्ञान सापेक्ष प्रतीत होता है। विशेष दृष्टियां, विशेष प्रयोजनों के फलस्वरूप होती हैं। लेकिन एक दृष्टि को अपनाने का अर्थ दूसरी दृष्टि का खण्डन नहीं है। वस्तु का स्वरूप व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में उभर कर आता है। नयों के अनेक भेद हैं। एक प्रकार के भेद में नय पर प्रकाश डाला गया है, जहाँ विभाजन इस बात पर निर्भर करता है कि हमारा जोर विशेषों पर है, नकि सामान्य पर। इसी प्रकार द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय पर प्रकाश डाला गया है। द्रव्यार्थिकनय में द्रव्य पर विचार किया जाता है, जबकि पर्यायार्थिकनय में पर्यायों पर विचार किया जाता है। इस विचारधारा का सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग स्याद्वादवाद में होता है। जैन दृष्टि का एक महत्वपूर्ण अंग स्याद्वाद या सप्तभंगी है। इसके अनुसार तत्त्व का स्वरूप वस्तुतः अनिश्चित है। जैन दर्शन इस तथ्य पर बल देता है कि जगत् को अनेक दृष्टियों (अनेकान्त) से समझा जा सकता है। तत्व का स्वरूप किसी एक पक्ष से स्पष्ट नहीं होता है। वस्तु के पूर्ण वर्णन के लिए सभी विधेयों की आवश्यकता पड़ती है जो परस्पर विरोधी भी प्रतीत होते हैं। प्रत्येक कथन सापेक्ष होता है। निरपेक्ष विधान और निरपेक्ष निषेध दोनों त्रुटिपूर्ण हैं। जैनों ने इसे एक हाथी के दृष्टान्त के माध्यम से समझाया है। दृष्टान्त में छः अन्धे हाथी के एकांश धार्मिक और दार्शनिक विवाद भी होते हैं। किन्तु जैनमत नय के सात प्रकार या भंग स्वीकार करता है।

1) स्यात् अस्तिः सापेक्षतया वस्तु है।

2) स्यात् नास्तिः सापेक्षतया वस्तु नहीं है।

3) स्यात् अस्ति च नास्ति चः सापेक्षतया वस्तु है और नहीं है।

4) स्यात् अवक्तव्यम् चः सापेक्षतया वस्तु अवक्तव्य है।

5) स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् चः सापेक्षतयावस्तु है और अवक्तव्य है।

6) स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् चः सापेक्षतयावस्तु नहीं है और अवक्तव्य है।

7) स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् चः सापेक्षतयावस्तु है, नहीं है और अवक्तव्य भी है।

प्रत्येक भंग एक दृष्टि को पकड़ता है। जब एक ही दृष्टि को सम्पूर्ण वस्तु का परिचायक समझ लिया जाता है तो नयाभास होता है। इसलिए जैनों के अनुसार उपनिषदों का सिद्धांत, जो नित्यता को स्वीकार करता है, और बौद्धों का सिद्धांत, जो अनित्यता को स्वीकार करता है, एकांगी है तथा नयाभास के उदाहरण हैं। जैनों के अनुसार नित्यता और अनित्यता एक की वस्तु को दो आयाम हैं। लेकिन यहाँ याद दिलाना उचित होगा कि जैनों द्वारा उपनिषदों के मत की आलोचना ठीक नहीं है, क्योंकि उपनिषद् पारमार्थिक

तत्व की चर्चा करते हैं जबकि जैन दर्शन व्यावहारिक तत्व की चर्चा करता है। अपितु, जैनों ने व्यावहारिक धरातल की तरफ जो ध्यान आकर्शित किया है यह उचित है, लेकिन यह यह समझ पाने में असमर्थ है कि सापेक्षता का यह सिद्धांत केवल एक नियत सत् के संदर्भ में ही अर्थपूर्ण हो सकता है। परंतु जैन किसी भी हालत में सापेक्षता के सिद्धांत को छोड़ने को तैयार नहीं होते हैं। सप्तभंगी विभिन्न दृष्टियों का एक यान्त्रिक संग्रह है, उनका समन्वय नहीं। जैन यह भूल जाते हैं कि विभिन्न सापेक्ष तथ्यों का संग्रह सत्य नहीं बनता है। यह 'अभेद और भेद' का सिद्धांत है लेकिन 'भेद में अभेद' का सिद्धांत नहीं है। यदि जैन तर्कशास्त्र का निर्माण व्याघात के नियम पर किया जाये, तब जैन दर्शन यह भूल जाता है कि व्याघात का नियम तादात्म्य के नियम का केवल नकारात्मक पक्ष है। लेकिन जैन केवल ज्ञान में विश्वास करते हैं, जो सम्यक् दर्शन ज्ञान है। इस ज्ञान के स्तर पर केवली सापेक्ष ज्ञान के ऊपर उठ जाता है। अब यदि इस केवल ज्ञान के स्तर पर विषय–विषयी और ज्ञान का ऐक्य हो जाता है तब स्वतः ही उनका सापेक्षवादी बहुलवाद का सिद्धांत धराशायी हो जाता है।

जैन मत पाँच प्रकार के ज्ञान को मानता है– मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल।

मतिज्ञानः यह मन और इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान है। चूँकि मन को इन्द्रिय नहीं माना गया है अतः यह साक्षात् परिचय के द्वारा ज्ञान है।

श्रुत ज्ञानः यह जैन परम्परा और आगमों के आधार पर प्राप्त ज्ञान है। यह विवरण द्वारा प्राप्त ज्ञान है।

अवधिः यह वस्तुओं का देश और काल में ज्ञान है लेकिन यह ऐसा ज्ञान है जहाँ दूरस्थ वस्तुओं का भी ज्ञान हो जाता है। परन्तु चूँकि यह दैशिक और कालिक अस्तित्व के परे नहीं है, इसलिए यह सीमित है।

मनःपर्यायः इसमें दूसरों के मन का ज्ञान हो जाता है।

केवल ज्ञानः यह पूर्णज्ञान है। यहाँ पर सभी द्रव्यों और उनके पर्यायों का ज्ञान हो जाता है। यह सर्वज्ञता की अवस्था है, जिसमें देश–काल और वस्तु का बन्धन नहीं होता है। यह मन और इन्द्रियों से स्वतन्त्र ज्ञान है। यह ज्ञान मुक्त जीवों को होता है।

इन पाँचों ज्ञानों को दो श्रेणियों मे विभक्त किया गया है– प्रत्यक्ष और परोक्ष। इसका विस्तृत वर्णन अगले खण्ड में प्रमाण शीर्षक के अन्तर्गत् किया जाएगा।

उपरोक्त पाँच प्रकार के ज्ञानों में प्रथम तीन प्रकार के ज्ञान– मति, श्रुत और अवधि दोषपूर्ण हो सकते हैं, लेकिन मनःपर्याय और केवल ज्ञान में ऐसी त्रुटि नहीं होती है। ज्ञान की प्रामाणिकता व्यावहारिक दक्षता अर्थात् शुभ को प्राप्त करने और अशुभ से बचाने में होती है। प्रामाणिक ज्ञान वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है इसलिए यह उपयोगी भी होता है। *प्रमाणमीमांसा* में हेमचन्द्र यह मानते हैं, "प्रामाणिकता या तो स्वतः होती है या परतः होती है"। जैन दर्शन स्वतः और परतः दोनों प्रकार की प्रामाणिकता की चर्चा करता है। कुछ उदाहरणों में प्रामाणिकता का निर्धारण एक संज्ञान के द्वारा स्वतः हो जाता है। इसके अन्तर्गत् हम ऐसे सभी संज्ञानों को रख सकते हैं जो आभ्यासिक अथवा आदत–रूप होते हैं, जैसे जल को देखकर ही हम समझ जाते हैं कि यह हमारी प्यास बुझाएगा। हम जल में इस तथ्य में सन्देह नहीं करते हैं। लेकिन अनेक स्थानों पर प्रामाणिकता परतः होती है। यहीं हम प्रामाणिकता के लिए–

1) उसी वस्तु के पुनः ज्ञान पर निर्भर होते हैं,

2) उसके 'सफलप्रवृत्तिजनकत्व' पर निर्भर होते हैं,

3) इस पर निर्भर होते हैं कि उस वस्तु का ज्ञान सर्वदा इसी प्रकार का होता है।

यहाँ परतः प्रामाण्यवाद है। जहाँ प्रामाण्य का निर्धारण अन्य साधनों के द्वारा होता है। जैनों के अनुसार भ्रमज्ञान से तात्पर्य वस्तु के अपने रूप से असहमति होना है। जैनों के अनुसार अयथार्थ ज्ञान वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट नहीं करता है। जब हम रस्सी को साँप समझते हैं तो भ्रम साँप को वहाँ देखने में होता है जहाँ यह नहीं होता है। भ्रमात्मक ज्ञान तीन प्रकार का होता है– संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय। भ्रमात्मक ज्ञान का उद्भव आलस्य अथवा असंगतता के कारण होता है। जैनों के अनुसार अयथार्थ ज्ञान व्याघात को जन्म देता है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तों का मिलान कीजिए।

1. जैन दर्शन के अनुसार, चेतना क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

2. जैनों के भ्रम सिद्धान्त पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

15.4 प्रमाण

जैन दर्शन के अनुसार, दो प्रकार का ज्ञान होता है; अपरोक्ष और परोक्ष। जैन दर्शन प्रमाण के तीन भेद स्वीकार करता है– प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। ये तीनों प्रमाण परोक्ष ज्ञान को प्राप्त करने के साधन हैं। अपरोक्ष ज्ञान इन्द्रियों की सीमा से बाहर का ज्ञान है। इसमें जीव का ज्ञान साक्षात ज्ञान होता है। यह अतीन्द्रिय होता है तथा यह यथार्थ ज्ञान होता है। हेमचन्द्र (*प्रमाणमीमांसा*, 1.1.15) के अनुसार "इस प्रकार के प्रत्यक्ष में आवरण का पूर्णयता लोप हो जाता है और जीव साक्षात् ज्ञान प्राप्त करता है।" चेतना आत्म का स्वरूप है

और आत्म स्वयं प्रकाश है। इस प्रकार का प्रत्यक्ष वहाँ होता है जहाँ आत्म स्वतः प्रकाशित होकर स्वतः ज्ञान प्राप्त करती है। यह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। यह शुद्ध, पूर्ण तथा मन–बुद्धि से स्वतन्त्र होता है। यहाँ कर्म का बन्धन समाप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप, आत्म शुद्ध रूप में प्रकाशित होकर सम्पूर्ण सत् का साक्षात प्रत्यक्ष करता है। यह केवल ज्ञान है या सर्वज्ञता की स्थिति है। इसके अन्य दो प्रकार 'अवधि ज्ञान' एवं 'मनःपर्याय' हैं। अवधिज्ञान में वस्तु का ज्ञान होता है। अतः इसमें केवल देश–काल में उपस्थित 'रूप–आकार' वाली वस्तुओं का ही ज्ञान होता है। देष–काल से सीमित होने से यह सीमित ज्ञान है। मनःपर्याय मन के पर्यायों का ज्ञान है। यह मानवजगत् में होता है। इसमें हम दूसरे के मन की बात जान जाते हैं। यह ज्ञान सिद्ध होता है। यह अवधि से ज्यादा स्पष्ट होता है। परन्तु सभी ज्ञानों का सर्वोच्च शिखर 'केवलज्ञान' है।

15.5 सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष

इस प्रकार का प्रत्यक्ष मन और इन्द्रिय द्वारा सीमित होता है। इसलिए यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यह पाँच इन्द्रियों एवं मन में की सहायता से होता है। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों स्पर्श, स्वाद, गन्ध, दर्शन और सुनने की हैं। इनके दो रूप हैं, अनिन्द्रिय और सूक्ष्म इन्द्रिय या अन्तःकरण। अन्तःकरण भी दो प्रकार का होता है– भौतिक और मानसिक। भौतिक जड़वस्तु की ओर संकेत करता है तथा मानसिक चेतन क्रियाओं की ओर संकेत करता है। यह प्रत्यक्ष चार प्रकार होता है: अवग्रह, ईहा (परिकल्पना), अवाय, धारणा।

अवग्रह (संवेदन) में वस्तु का निर्विकल्पक (इन्द्रिय–विषय सम्पर्क से जनित प्रथम अनिश्चित ज्ञान) ज्ञान होता है। ईहा में वस्तु का सविकल्पक (इन्द्रिय–विषय सम्पर्क से जनित नाम रूप सहित ज्ञान) ज्ञान होता है। अवाय में हम निश्चित ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसमें हम यह कह सकते हैं कि हमने क्या ज्ञात किया, और धारणा में हम ज्ञान को स्मृति में समाहित करके लम्बी अवधि का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह पूर्व अनुभव का बचा हुआ नवीनतम मानसिक संस्कार होता है।

ज्ञान के अन्य प्रमाण अनुमान ओर आगम भी इस परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत् आते हैं। जैनों के अनुसार अनुस्मरण, प्रत्यभिज्ञा और आगमन भी परोक्ष ज्ञान हैं। इन श्रेणियों का ज्ञान प्रत्यक्ष से कम स्पष्ट ज्ञान होता है।

अनुमान में हम साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं। साध्य यथार्थ होता है जिसका ज्ञान साधन के द्वारा होता है। साध्य का ही अनुमान किया जाता है। यह दिखाई नहीं पड़ता है इसलिए अनुमान किया जाता है। साधन अनुमानित साध्य को इंगित करता है। निम्नांकित उदाहरण में पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहाँ धूम है। यहाँ साधन धूम है तथा साध्य अग्नि है अर्थात् इसमें धूम (साधन) के आधार पर अदृश्य अग्नि (साध्य) का अनुमान किया जाता है। ऐसा इसलिए संभव होता है क्योंकि साधन और साध्य के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध होता है। व्याप्ति अव्यभिचारी सम्बन्ध है।

अनुमान दो प्रकार का होता है, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थ अनुमान अपने स्वयं के ज्ञान के लिए होता जबकि परार्थानुमान का लक्ष्य दूसरों को ज्ञान प्रदान करना होता है। प्रत्येक प्रकार के अनुमान का प्राण व्याप्ति होती है। व्याप्ति अनेक प्रकार की होती है। जैसे– तादात्म्य, कारण–कार्य तथा समानाधिकरण्य। इन्हें हम निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। जब हम कोई शब्द सुनते हैं, तो उसके अर्थ का अनुमान कर लेते हैं, क्योंकि शब्द और

उसके द्वारा इंगित वस्तु में तादात्म्य सम्बन्ध है। कारण–कार्य संबंध को निम्नांकित उदाहरण से समझ सकते हैं; काले बादल से हम वर्षा का अनुमान कर लेते हैं। इसी प्रकार, हम धूम से अग्नि का अनुमान कर लेते हैं, क्योंकि यहां बादल–वर्षा, धूम–अग्नि दोनों में कारण–कार्य का सम्बन्ध होता है। समानाधिकरण्य का उदाहरण यह है कि स्वाद से रंग और रंग से स्वाद का अनुमान। जबकि स्वाद और रंग एक ही फल में होता है।

15.6 अनुमान

प्रमाण मीमांसा (2.1.1) में यह कहा गया है कि इस प्रकार के अनुमान में साध्य का निश्चयात्मक ज्ञान हेतु (साधन) से साध्य के अनिवार्य सम्बन्ध के आधार पर होता है। दूसरे शब्दों, अनुमान के लिए कम से कम मध्यपद और मुख्यपद के मध्य व्याप्ति का होना अनिवार्य है। साधन (धूम) मध्यपद होता है एवं इसी का प्रत्यक्ष होता है तथा मुख्य पद साध्य (अग्नि) होता है एवं इसी के व्यक्ति सम्बन्ध के आधार पर अनुमान किया जाता है। उपरोक्त उदाहरण में धूम मध्य पद है तथा अग्नि मुख्य पद है। इस प्रकार धूम के पर्वत पर प्रत्यक्ष से अग्नि का पर्वत पर अनुमान होता है।

15.7 आगम (श्रुत ज्ञान)

यह ज्ञान ऐसे व्यक्ति के शब्द पर आधारित होता है जो यथार्थ वक्ता होता है। इसे शब्द प्रमाण भी कहा जाता है। यह व्यक्ति जिसे सम्यक् ज्ञान होता है और यह सदैव सत्य निर्णय या कथन कहता है, आप्त पुरूष या विश्वसनीय पुरूष कहलाता है। आप्त पुरूष दो प्रकार के होते हैं– लौकिक और अलौकिक। लौकिक सामान्य आप्त से सम्बन्धित है। जबकि अलौकिक सर्वज्ञ से सम्बन्धित है।

15.8 जैन आचार दर्शन

जैनों की प्रमुख विशेषता उनका आचार दर्शन है, जैसा कि जिन शब्द से स्पष्ट भी है। जैन दर्शन का मुख्य उद्देश्य भावनाओं और इच्छाओं पर पूर्ण नियन्त्रण करना है। इनकी साधना में शारीरिक तप एक महत्वपूर्ण अंग है। यह गृहस्थ और सन्यासी दोनों के लिए कठोर साधना का विधान करता है। जैनों ने सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचार दोनों पर बल दिया है। नैतिकता मानव को नये कर्मों से हटाने में और मानव के चरित्र का सुधार करने में प्रमुख भूमिका निभाती है। इसलिए जैनों ने अपने नीतिशास्त्र में त्रिरत्नों पर बल दियाय जो इस प्रकार हैं– सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र।

इसमें सबसे पहले सम्यक् दर्शन पर बल दिया है, क्योंकि सम्यक् किया भी सम्यक् दर्शन के अभाव में विपरीत फल दे सकती है। सम्यक् दर्शन जैन शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धांतों पर अटूट श्रद्धा है। सम्यक् ज्ञान जैन धर्म एवं दर्शन का यथार्थ ज्ञान है। सम्यक् चारित्र उस ज्ञान का व्यवहार में आचरण है। सम्यक् आचरण से ही हम कर्मबन्धन से मुक्त हो सकते हैं, इसलिए यह अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसके लिए जैनों ने पाँच व्रत का विधान किया है। श्रमणों के लिए (अधिक कड़े होने के कारण) ये पाँचों महाव्रत कहलाते हैं तथा गृहस्थों के लिए (कुछ सीमा तक उदार होने के कारण) ये पाँचों अणुव्रत कहलाते हैं। ये निम्नांकित हैं–

अहिंसाः

यहा पाँचों महाव्रतों में से सबसे प्रमुख व्रत है। इसका उद्देश्य किसी भी जीवित प्राणी को कोई भी कष्ट या हिंसा नहीं देना है। इसमें व्यक्ति विचार, शब्द और कर्म में अहिंसा का पालन करते हैं। इसमें मनुष्य न केवल दूसरों को कष्ट देने से बचते हैं, बल्कि दूसरों को कष्ट से निकालने में भी प्रयासरत रहते हैं। कोई व्यक्ति इस व्रत के पालन में तभी सफल हो सकता हैं, जब यह अंहकार, ममता, मोह, घृणा को छोड़ देता है।

सत्यः

यह दूसरा महाव्रत है। यहाँ पर व्यक्ति निर्भय होकर तथा क्रोध से रहित सत्य वचन बोलते हैं। यह वाणी का संयम है।

अस्तेयः

यहाँ पर साधक चोरी न करने का व्रत लेते हैं। किसी दूसरे की वस्तु को लेना चोरी है। घूस लेना, गलत ढंग से पैसा बनाना, बिना अनुमति के सामान को इधर से उधर ले जाना ये सभी अस्तेय के उल्लघंन के लक्षण हैं।

ब्रह्मचर्यः

ब्रह्मचर्य से तात्पर्य सभी प्रकार के विषय भोग (वासना) की तीव्र लालसा पर, विशेष रूप से काम वासना पर, नियन्त्रण एवं किसी भी प्रकार के स्त्री सम्बन्ध से परहेज करने से है। ब्रह्मचर्य मे वाणी, क्रिया, भावना, तीनों का संयम किया जाता है।

अपरिग्रहः

यह व्रत परिग्रह (बहुमुल्य भौतिक वस्तुओं का संग्रह) को हटाता है। श्रमण के पास किसी वस्तु का परिग्रह नहीं होना चाहिए। गृहस्थ के लिए थोड़ी छूट दी गयी है। इसका प्रधान उद्देश्य बाह्य वस्तुओं से राग को कम करना है।

गृहस्थों के लिए अन्तिम दो व्रतों में सुविधा दी गयी है। गृहस्थ को स्वयं अपने वैवाहिक जीवन से सन्तुष्ट होना चाहिए तथा आवश्यकता से अधिक परिग्रह नहीं करना चाहिए।

जीवन का उद्देश्य कर्म बन्धन से मुक्त होना है। कर्म बन्धन को सभी भारतीय दार्शनिक मानते हैं। लेकिन जैन दर्शन में उन्हें जड़ात्मक कण के रूप में देखा गया है जिनके कण आत्मा का बन्धन होता है। जीवों में स्तर का भेद है। यह उनके आण्विक कर्म सम्बन्ध के आधार पर होता है। जैन–धर्म के अनुसार कर्म जड़ात्मक है और जीव को नीचे की तरफ आकर्षित करते हैं। यह जीव से उसी प्रकार सम्बन्धित हो जाते हैं जैसे ताप लोहे से, जल दूध से होता है और जीव को बन्धन में ढकेल देते हैं। यह जीव को कर्म और राग के अनुसार विभिन्न देश और काल में बाँधे रहते हैं। जैन धर्म यह मानता है कि इस कर्म बन्धन को आत्मानुशासन से पूर्णतः तोड़ा जा सकता है। इसके लिए ये नौ तत्त्वों (पदार्थ) का विधान करते हैं; जीव, अजीव, पुण्य, पाप आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीव और अजीव क्रमशः चेतन और जड़ के ओर संकेत करते हैं। पुण्य और पाप क्रमशः कल्याणमय कर्म और अकल्याणकारी कर्म की ओर संकेत करते हैं। आस्रव और बन्ध जीव को बांधते हैं। यथार्थ तत्त्वों का अज्ञान और राग, कर्म–बन्धनों को जीव की ओर आकर्शित करना आस्रव है तथा जीव की इनके साथ बंध जाने की अवस्था बन्धन है। इस प्रकार से

इसका निरोध भी दो चरणों में होता है। सम्यक् रूप से तत्त्वों के ज्ञान के कारण कर्मों का जीव की तरफ आना रुकने लगता हैं, जिसे संवर कहते हैं और उनका बिल्कुल लोप हो जाना, निर्जरा कहलाता है। इसमें तप की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

इसके बाद जीव का कार्मिक बन्धन छूट जाता है और यह मुक्त हो जाता है तथा अपने यथार्थ स्थान लोकाकाश के ऊपर सर्वज्ञ और शान्तमय अवस्था में रहता है। ज्ञान प्राप्ति और मोक्ष दोनों के मध्य की अवस्था अर्हत् (अरिहन्त) की अवस्था कहलाती है। इसमें जीव नये बन्धनों से मुक्त रहता है। पूर्ण मोक्षावस्था सिद्धावस्था कहलाती है। जहाँ जीव अशरीरी रूप में लोकाकाश के शिखर पर वर्तमान रहता है। अर्हत् सर्वज्ञ होता है लेकिन शारीरिक बन्धन से उसका वियोग नहीं रहता और यह निर्वाण की प्रतीक्षा में होता है।

15.9 सारांश

जैन मतावलम्बी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते हैं। ये विश्वास करते हैं कि कर्म का नियम ईश्वर निरपेक्ष रूप से कार्य करता है। अर्हत् शारीरिक अवस्था मे ईश्वर है लेकिन यह किसी को वरदान या श्राप नहीं दे सकता। यह उनके लिए आदर्श है जो मुक्त होना चाहते हैं। प्रत्येक मुक्त जीव दैवीय है। उसे केवलज्ञान या सर्वज्ञता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। कुछ अर्हत् तीर्थंकर ये अर्हत् है जो जैन मत की शिक्षा का प्रचार–प्रसार करते हैं।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. जैन दर्शन के सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष पर टिप्पणी लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

2. त्रिरत्न की अवधारणा पर टिप्पणी लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

15.10 कुंजी शब्द

ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद : ज्ञान मीमांसीय यथार्थवाद यथार्थ वस्तु का मन से स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करता है। यह ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद का विरोध करता है।

सापेक्षतावाद : इस सिद्धांत के अनुसार हमारे अनुभव या संस्कृति के अनेक तत्व सापेक्ष या अन्य दूसरे तत्त्वों पर निर्भर होते हैं।

15.11 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

गोपालन, ए. *आउट लाईन ऑफ जैनिज्म.* न्यू देल्हीः विले इस्टर्न प्रा. लि., 1903.

जैनी, जे. एन. *द हर्ट ऑफ जैनिज्म ए रिव्यू.* ओवल रीः आत्मानन्द जैन ट्रस्ट सोसाइटी, 1925.

जैनी, जे.एल. *आउट लाईन ऑफ जैनिज्म.* इग्लैण्डः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1940.

नाहर, एन.सी. तथा घोष. के. सी. *एन एनसाइक्लोपीडिया ऑफ जैनिज्म.* न्यू देल्हीः श्री सतगुरु पब्लिकेशन, 1988.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

सूरी, हरिभद्र. *षडदर्शनसमुच्चय.* अनुवाद– कामेश्वरनाथ मिश्र. वाराणसीः चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1979.

15.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. चेतना जीव का सार है। इसके दो रूप हैं– (अ) दर्शन या अन्तर्बोध (ब) ज्ञान। दर्शन या अन्तर्बोध सन्देहास्पद ज्ञान की अवस्था है, जबकि ज्ञान सम्प्रत्ययात्मक ज्ञान है।

2. जैनों के अनुसार, भ्रामक ज्ञान का अर्थ वस्तु के साथ विसंवादी होना है यह वस्तु को इस प्रकार दर्शाता है जैसी यह नहीं है। रज्जू को सर्प समझने में हमारा दोष यह है कि हम सर्प को वहाँ देखते हैं, जहाँ यह नहीं है। भ्रम के तीन प्रकार हैं, (अ) संशय (ब) विपर्यय (स) अनध्यवसाय भ्रम हमारी लापरवाही के कारण होता है। भ्रमात्मक ज्ञान व्याघात को जन्म देता है।

बोध प्रश्न 2

1. सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष चार प्रकार का होता है।

   अ) अवग्रह (संवेदन)

   ब) ईहा (परिकल्पना)

स) अवाय (निश्चित ज्ञान)

द) धारणा

अ) अवग्रह किसी वस्तु का उस समय का निर्विकल्पक ज्ञान है जब इन्द्रियों का वस्तु से सम्पर्क होता है।

ब) ईहा में, संवेदनाओं के उपर विचार किया जाता है और विषय का परिकल्पनात्मक ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

स) सविकल्पक ज्ञान अवाय में होता है। जहाँ हम वस्तु के विषय में निश्चित ज्ञान प्राप्त करने में सफल रहते हैं।

द) धारणा स्मृति की वह स्थिति है जहां हम उपरोक्त तीन स्तरों के पश्चात प्राप्त ज्ञान का स्मरण कर लेते हैं। यह पूर्ण कालिक अनुभूत ज्ञान की तात्कालिक स्मृति की स्थिति है।

2. जैन दर्शन का मुख्य उद्देश्य भावनाओं और इच्छाओं का नियन्त्रण करना है उनके अनुसार जीवन के तीन मुख्य सिद्धांत हैं–

अ) सम्यक् श्रद्धा/दर्शन

ब) सम्यक् ज्ञान

स) सम्यक् चारित्र

इन तीनों में से प्रथम स्थान श्रद्धा का है जिसे सम्यक् दर्शन कहा गया है। श्रद्धा के बिना किसी कर्म का कोई मूल्य नहीं है। इसमें हम जैन आगमों पर संशय रहित श्रद्धा रखते हैं जो हमारे आध्यात्मिक उत्थान के लिए आवश्यक है। सम्यक् ज्ञान में जैन धर्म और दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। सम्यक् आचार ज्ञान के अनुसार आचरण से सम्बन्ध रखता है। उचित आचरण के बिना जीवन का लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इकाई 16 बौद्ध दर्शन–I[16]

रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 परिचय

16.2 बौद्ध दर्शन का तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण

16.3 प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त

16.4 बौद्ध दर्शन की नैतिक शिक्षाएं

16.5 निर्वाण (पालि भाषा में, निब्बान)

16.6 कर्म

16.7 सारांश

16.8 कुंजी शब्द

16.9 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

16.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन को पालि बौद्ध दर्शन अथवा स्थविरवाद कहते हैं। प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन को बाद में विकसित बौद्ध सम्प्रदायों से भिन्न समझना चाहिए क्योंकि उनका उद्भव बुद्ध की शिक्षा के बहुत बाद में हुआ था। बौद्ध मत के संस्थापक सिद्धार्थ थे जो गौतम गोत्र से सम्बन्धित परिवार से थे। बोधि प्राप्त करने के बाद उन्हे बुद्ध अर्थात 'जाग्रत' कहा गया। इस इकाई में निम्नलिखित बातों का ज्ञान प्राप्त होगा:

- बौद्ध दर्शन का तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण
- प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत
- बौद्ध दर्शन का नैतिक विचार
- निर्वाण
- कर्म

16.1 परिचय

बुद्ध का जन्म ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में हुआ था। यह काल आध्यात्मिक बेचैनी का काल था। समाज वास्तविक दर्शन से दूर था। परम्परा अत्यंत जटिल हो गयी थी। यज्ञों के

[16] प्रो. सुधा गोपीनाथ, कोरामंगला, बैंगलोर, अनुवाद– प्रो. ए के सिंह, बीएचयू, वाराणसी

सम्पादन में नियमों को अधिक ध्यान मे रखा जाता था लेकिन उनके प्रयोजन पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था। राजाओं के द्वारा पुरोहितों को संरक्षण देने की परम्परा ने उन्हें लालची बना दिया था। ऐसे काल में श्रद्धा को पुनः व्यवस्थित करने की आवश्यकता थी। भगवान बुद्ध का अवतरण ऐसे ही समय में हुआ और उन्होंने संसार के कल्याण के लिए एक अत्यंत व्यावहारिक और वैज्ञानिक दर्शन का उपदेष दिया।

जब सिद्धार्थ ने यह जाना कि जगत् दुःख से परिपूर्ण है तो उनका मन इसके निदान के लिए छटपटाने लगा। उन्होंने दुःख के व्यक्तिगत उदाहरणों में एक सार्वभौम समस्या का दर्शन किया। इन्द्रिय सुख की निःसारता के कारण उन्होंने राजभवन के सुख का परित्याग कर दिया और एक सामान्य पथिक की भाँति सत्य की खोज में निकल पड़े। क्योंकि उस समय सत्यान्वेषकों का यही जीवन था। उन्होंने 29 वर्ष की अवस्था में गृहत्याग किया और उस समय के प्रसिद्ध चिन्तकों का शिष्यत्व ग्रहण किया। लेकिन उनके विचारों से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने शारीरिक तप का भी आश्रय लिया। उन्होंने पांच भिक्षुओं के साथ बहुत ही कठोर शारीरिक तप किया। इससे भी उनको सन्तोष नहीं हुआ। तब उन्होंने कम कठोरता वाले शारीरिक तप का आश्रय लिया। इस प्रक्रिया में उन्होंने तृष्णा, राग और द्वेष पर विजय पायी। उन्हें अस्तित्व के रहस्यों के विषय में, व्यक्ति, आत्मा और सम्पूर्ण जगत् के विषय में दिव्य ज्ञान हुआ। बोधि वृक्ष के नीचे उन्हे ज्ञान की नयी किरण का साक्षात्कार हुआ और यह सिद्धार्थ से बुद्ध बन गए। किंवदन्तियां बताती हैं कि जब यह बोधिवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ थे तो मार (बुराई का देवता) ने उन्हें अनेक प्रलोभन दिए और सत्य से हटाने के अनेक प्रयास किये लेकिन यह बुद्ध को मार्ग से विचलित नहीं कर सका। इस प्रकार बुद्ध जिन, तथागत और वीर बन गए। बुद्ध अपने धर्म का प्रचार करने के लिए सामान्य जनों के बीच गये जिससे वे पाप से मुक्त हो सकें। उन्होंने समस्याग्रस्त जगत् के लिए चार आर्य सत्यों और आष्टांगिक मार्ग का उपदेश यहीं दिया। उनके मुखमण्डल की शांति तथा स्पष्टता लोगों को आकर्षित करती थी। उनके प्रथम शिष्य यही पाँच भिक्षु बने थे, जो उन्हें पथ भ्रष्ट समझकर छोड़ गये थे।

बुद्ध ने किसी पुस्तक की रचना नहीं की किन्तु उनकी मृत्यु के बहुत वर्षों के बाद उनकी शिक्षाओं का संकलन किया गया इसलिए उनकी शिक्षाओं में कुछ अस्पष्टता है। लेकिन बौद्धों का विशाल साहित्य है। इन पवित्र ग्रंथों की अनेको व्याख्याएं पालि, संस्कृत और प्राकृत भाषा में मिलती हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना संभव नहीं है कि बुद्ध का निश्चित मत क्या है? तथापि कुछ प्राचीन ग्रंथों को प्रारम्भिक बौद्ध मत के आधार के रूप में स्वीकार किया गया है। ये ग्रंथ पालि भाषा, जो संस्कृत भाषा की एक बोली या उससे भिन्न भाषा हो सकती है, में लिखे गये है। इस सद्साहित्य को त्रिपिटिक (डलिया, टोकरी) कहते हैं। ये निम्न हैः

सुत्त पिटकः इसमें बुद्ध के कथन हैं।

विनय पिटकः इसमें भिक्षु संघ के लिए नियम हैं।

अभिधम्मपिटकः इसमें दार्शनिक समस्याओं पर विचार है।

ये पिटक सम्वाद के रूप में हैं और इनमें आधुनिक अर्थों में कोई क्रमबद्ध दार्शनिक विचार नहीं हैं। इनमें केवल रूपक तथा उपमाएं हैं जिनके कारण भी सन्देश में कुछ अस्पष्टता है। इन तीनों में *सुत्तपिटक* का ज्यादा महत्व है क्योंकि ये बुद्ध के वचन हैं। इनको पाँच भागों में विभाजित किया गया हैः

- दीघ निकाय
- मज्झिम निकाय
- संयुक्त निकाय
- अंगुत्तर निकाय
- खुद्दक निकाय।

विनय पिटक में भिक्षु–भिक्षुणियों के आचरण के नियम हैं। अभिधम्म पिटक में सात ग्रंथ हैं जो बौद्ध धर्म दर्शन से सम्बन्धित हैं।

तथापि, पालि में अन्य और भी बहुत से ग्रंथ है परन्तु उन्हें प्रामाणिक धर्म ग्रन्थ का सम्मान प्राप्त नहीं है। इसमें से त्रिपिटकों पर कुछ टीकाएँ हैं। ऐसी विश्वास किया जाता है कि इनमें से बहुत सी टीकाएं बुद्धघोष के द्वारा ईसा की पांचवी शताब्दी में शिलांग मे संकलित की गयी थीं। बाद में जातक कथाओं को गद्य के रूप में संकलित किया गया जो एक सुन्दर रचना है। बुद्धघोष ने *विशुद्धिमग्ग* की रचना की, जिसका अर्थ है– 'विशुद्धि का मार्ग'। पालि का एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ *मिलिन्द–पन्हो* (मिलिन्द–प्रश्न) है जिसमें नागसेन और ग्रीक राजा मिनाण्डर का संवाद है। अशोक (273–232 ई.पू.) के शिलालेख भी बौद्ध परम्परा के बारे में हमें ज्ञान देने में सहायक हैं।

यद्यपि बौद्ध परम्परा वैदिक परम्परा से भिन्न रही है फिर भी यह कहा जा सकता है कि उन्होंने उपनिषदों में छिपी हुई दार्शनिक धाराओं को ही निष्कर्ष तक पहुँचाया। उदाहरण के लिए, उपनिषद् में आत्मा को निषेधात्मक दृष्टि से वर्णित किया गया और भगवान बुद्ध ने आत्मा की संकल्पना का पूर्णतः निषेध कर दिया। कर्म का सिद्धांत भी बौद्ध दर्शन को उपनिषदों से जोड़ने में सहायक है।

बौद्ध दर्शन प्रथम दृष्टि में निराशावादी प्रतीत होता है लेकिन ऐसा मानना अनुचित है। सारनाथ के उपदेश को यदि हम अपना पथ प्रदर्शक मानें तो बुद्धोपदेश का सार यह है कि जिस प्रकार हेय (दुःख) और हेय का हेतु (कारण) है, उसी प्रकार उसका निदान (हान) और उसके निदान के उपाय (हानोपाय) हैं। यह औषधि विज्ञान की तरह है। यदि रोग है तो रोग का कारण है। यदि रोग के कारणों का अच्छी तरह पता है, तो उसके निदान में आसानी होती है। इससे यह प्रतीत होता है कि बुद्ध ने यह अवश्य कहा है कि सब कुछ दुःखमय है, लेकिन यहीं उनकी शिक्षा का अन्त नहीं हो जाता है। उनकी शिक्षा निराशावादी नहीं है। दुःख सत्य है, लेकिन उससे निकलने का रास्ता भी है। मानव इसी जन्म में शान्ति पा सकता है। इसलिए बौद्ध दर्शन आशावादी है, निराशावादी नहीं। द्वितीयतः बौद्ध दर्शन वैज्ञानिक है। बौद्ध काल में वैचारिक अराजकता दिखाई देती है। उस समय यज्ञ करने कराने पर बल था। लोग अन्धविश्वासी ज्यादा थे। उनमें वैज्ञानिक सोच का अभाव था। बुद्ध ने इसके विरोध में अपना मार्ग प्रशस्त किया और वैज्ञानिकता का रास्ता अपनाया। इसलिए उन्होंने वैदिक परम्परा का विरोध किया। वह किसी अतिप्राकृतिक सत्ता में विश्वास नहीं करते थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भगवान बुद्ध का दर्शन प्रत्यक्ष और बुद्धि पर आधारित है। बौद्ध दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह व्यावहारिक है। बुद्ध ने वही उपदेश दिया जो सांसारिक बन्धन से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक था। उनका मानना था कि बन्धन और दोषों से मुक्ति पाने के लिए तत्त्वमीमांसीय सूक्ष्मता की अधिक आवश्यकता नहीं है। वे बहुत व्यावहारिक थे। उन्होंने घोषणा की कि "दर्शन से किसी की शुद्धि नहीं होती, शान्ति से होती है"। इससे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन में तत्त्वमीमांसा का अधिक

स्थान नहीं है। यहाँ हम कह सकते हैं कि यद्यपि बुद्ध का उद्देश्य तत्त्वमीमांसा की प्रतिष्ठा करना नहीं था फिर भी उनकी शिक्षाओं में तत्वमीमांसा के विचार दिखाई देते हैं।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. सिद्धार्थ की सत्य की खोज की यात्रा पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2. क्या बौद्ध दर्शन में औपनिषदिक (उपनिषद् की) धारा विद्यमान है?

.....

.....

.....

.....

.....

16.2 बौद्ध दर्शन का तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन चेतना और जड़ में भेद करता है, लेकिन न तो यह नित्य आत्मा को स्वीकार करता है, न ही यह जड़ तत्त्व (जगत्) को अपरिवर्तनशील मानता है। 'सर्वम् अनित्यं' यह बुद्ध का उद्घोष था। बुद्ध ने स्थापित किया कि कुछ भी नित्य नहीं है। उनकी उद्घोषणा है कि प्रत्येक चीज अनात्म है। अनुभव के किसी भी क्षण में हमें ठण्डा, गरम, प्रकाश, या छाया, प्रेम अथवा घृणा, दुःख या सुख की अनुभूति होती है। परन्तु संवेदन स्वयं अनित्य होते हैं। इनका बोध करने वाली कोई नित्य आत्मा भी नहीं होती है जैसा कि हम विश्वास करते हैं। उनके लिए संवेदन और विचार से संयुक्त भौतिक शरीर ही आत्मा है। उन्होंने आत्म को संघात माना। आत्म एक मनो–भौतिक सत्ता है जो नाम–रूप के माध्यम से जानी जाती है। नाम मनोवैज्ञानिक घटकों का निरूपण करता है तथा रूप उसके भौतिक शरीर का। आत्म पाँच स्कन्धों से निर्मित है–

वेदना

संज्ञा

संस्कार

विज्ञान

नाम (आत्म)

रूप–भौतिक शरीर

इस प्रकार बौद्ध धर्म आत्म को नामरूपात्मक मानता है। बुद्ध के अनुसार धर्म ही धर्मी है। अतः किसी द्रव्यात्मक धर्मी की सत्ता नहीं है। इसलिए उन्होंने भौतिक द्रव्य के रूप में जड़ पदार्थ और आध्यात्मिक द्रव्य के रूप में आत्मा दोनों का खण्डन किया। दोनों संघातमय हैं। इसे बुद्ध का 'नैरात्म्यवाद' कहते हैं।

नैरात्म्यवाद से सम्बन्धित बौद्धों का एक और सिद्धांत क्षणिकवाद है। वस्तु क्षण–क्षण में परिवर्तित होती है। सब कुछ अनित्य है, सन्तानमय है। भाषा के कारण स्थायित्व का बोध होता है। इसी के कारण परिवर्तनशील वस्तुओं को हम नाम–रूप देकर अपरिवर्तनशील समझते हैं। बौद्ध मत के अनुसार जब हम कहते हैं, "यह सोचता है" या "यह सफेद है" तो 'यह' का अर्थ मात्र वही है जो "(यह) वर्षा हो रही है" में है। समस्त व्यापार क्रिया मात्र हैं। बौद्ध मत में इसको दिखाने के लिए अनेक उदाहरण हैं। *मिलिन्द–पन्हो* में रथ की उपमा से नैरात्म्यवाद का प्रदर्शन किया गया है। नागसेन ने ग्रीक राजा मिनाण्डर को नैरात्म्यवाद का विचार समझाने का प्रयास किया लेकिन राजा उनके मत से सहमत नहीं हुये। राजा को समझने के लिए नागसेन ने राजा से प्रश्न किया– महाराज! आप पैदल आये हैं कि रथ से आये हैं। राजा ने कहा कि यह रथ से आया है और यह सदा रथ से ही चलता है। तब नागसेन ने रथ को परिभाषित करने को कहा। उन्होंने पूछा कि रथ क्या कील है? क्या चक्का है? क्या धुरी है? इस प्रश्न के उत्तर में राजा ने कहा कि रथ इनमें से कुछ भी नहीं है। तब नागसेन ने कहा कि रथ इन वस्तुओं के संघात के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार रथ से संकेतित किसी अन्तर्वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार किसी आत्मा का अस्तित्व भी नहीं है। यह सिद्धान्त बौद्ध दर्शन के एक अन्य प्रमुख सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद की तरफ संकेत करता है।

16.3 प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का मूल मन्त्र है अस्मिन् (कारणे) सति इदं (कार्य) भवति अर्थात कारण के होने पर कार्य होता है तथा अस्मिन् सति इदं न भवतिय कारण के नहीं होने पर कार्य नहीं होता है। इस सिद्धान्त को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं जिसका मुख्य अभिप्राय क्षणिकवाद में परिवर्तन को प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से समझाना है। निरन्तरता का आधार कारणता है। मानसिक जगत् और भौतिक जगत् दोनों में प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम व्याप्त है। यह नियम पर्याप्त कारणों पर बल देता है। बौद्ध दर्शन न भाव में विश्वास करता है न अभाव में, यह परिवर्तन में विश्वास करता है। अतः यह यथार्थ का एक गतिमान चित्र प्रस्तुत करता है। बौद्ध दर्शन मे दो उपमाएं दी गयी हैं– एक बहते हुए पानी की तथा दूसरी जलती हुए लौ की। जैसे इन दोनों उदाहरणों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है लेकिन निरन्तरता भी बनी रहती है, यही स्थिति भौतिक जगत् और मानसिक जगत् की भी है। दोनों सन्तानमय हैं। दोनों कारण–कार्य के नियम से उत्पन्न धारा या श्रृंखला हैं, जहाँ एक घटना के अनन्तर दूसरी घटना आती है। नित्यता काल्पनिक है। बुद्ध के समय में दो परस्पर विरोधी मत थे। एक मानता था सब कुछ भावात्मक है अर्थात् सबकुछ भाव है। दूसरा मानता था सब कुछ अभाव है। इसके विरोध में बुद्ध ने यह प्रतिपादित किया कि सब कुछ परिवर्तनशील और सन्तानमय है। सभी वस्तुओं का जन्म होता है, उनकी वृद्धि होती है, उनका क्षरण होता है तथा उनका विनाश हो जाता है। बौद्ध दर्शन ने इस बात पर बल दिया है कि सब कुछ अनित्य है, परिवर्तनशील है, लेकिन परिवर्तन का आश्रय कोई द्रव्य नहीं है। तब प्रश्न होता है कि श्रृंखला के किन्हीं दो परिवर्तनशील बिन्दुओं के मध्य क्या सम्बन्ध है? ये दोनों किस प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। बुद्ध के समय में इस सम्बन्ध में दो मत थे–

शाश्वतवाद और उच्छेदवाद। इनके विरोधस्वरूप भगवान बुद्ध ने एक मध्यवर्ती सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। उन्होंने संयोगात्मकता (उच्छेदवाद) को नकारते हुऐ वस्तुओं में तार्किक एकरूपता को स्वीकार किया। इसी के साथ उन्होंने किसी अप्राकृतिक सत्ता (ईश्वर) को इस तार्किकरूपता के कारण के रूप में अस्वीकार कर दिया। शाश्वतवाद का मूल परासत्ता में विश्वास करना था, लेकिन बुद्ध के अनुसार कारणात्मक नियम का आधार कारण की आन्तरिक शक्ति नहीं है, अपितु अनेक बाह्य वस्तुओं के संघात से इसका संबंध है। परिवर्तन प्रतीत्यसमुत्पन्न है, अर्थात् कुछ शर्तों के पूर्ण होने पर ही कार्य परम्परा का नाश हो जाता है। जैसे–लौ का प्रकाश मिलने के लिए तेल, बत्ती और दीपक के संघात को एक विशेष क्रम में रखन पड़ता है। दीपक की लौ तभी मिलती है, जब दीपक कार्य करना बन्द कर देता है इसी प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम सार्वभौम है। इसमें किसी अपवाद का कोई स्थान नहीं, परन्तु इस नियम का कार्यान्वयन भी कुछ शर्तों पर निर्भर है। इसीलिए इसे प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ है कि सापेक्ष रूप से उत्पन्न होना। अर्थात उत्पत्ति किसी न किसी प्रकार की शर्तों के पूर्ण होने पर ही संभव होती है। इसका विपरीत रूप भी मान्य है कि कारण न होने पर कार्य नहीं होता हैय 'अस्मिन् सति इदं न भवति'।

बौद्ध मनोविज्ञान, जिसके आधार पर ज्ञान की व्याख्या की जाती है, प्रतीत्यसमुत्पाद पर आधारित है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, नामरूप पाँच अवयव हैं, जो संघात को बनाते हैं और एक दूसरे पर आश्रित होते हुए उत्पन्न होते हैं। *संयुक्त निकाय* में यह कहा गया है, ''ये चारों महाभूत (अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी के तत्व) हेतु और पच्चय (कारण) के रूप में कार्य करके रूप स्कन्ध को जन्म देते हैं। स्पर्श वेदना संज्ञा के लिए हेतु और संस्कार (संखारक्कन्ध) का पच्चय (कारण) है। नाम और रूप दोनों विज्ञान स्कन्ध के लिए हेतु और पच्चय का कार्य करते हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन का मूल स्तम्भ है। यह सभी बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में स्वीकृत है। स्वभाववाद की तरह इसमें नियतिवाद नहीं है। इसमें मानव प्रयास के लिए स्थान है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त बोधिवृक्ष के नीचे सिद्धार्थ के मन में उदित हुआ, जिसके कारण ये बुद्ध कहलाए। 'अस्मिन् सति इदं भवति' यह मूलमन्त्र है। 'अस्मिन् न सति इदं न भवति' यह भी उसका दूसरा रूप है। इसी प्रतीत्यसमुत्पाद में हम मानव दुःख के उच्छेद की आशा पाते हैं। भगवान बुद्ध की व्यवहारिक शिक्षा पर आने के पूर्व हम उनके दार्शनिक सिद्धान्त पर लगाये गये कुछ मुख्य आक्षेपों पर विचार करेंगे।

क्षणिकवाद पर प्रधान आक्षेप यह है कि इस प्रकार का सिद्धान्त स्मृति की व्याख्या कैसे करेगा? यदि सभी वस्तुएं निरन्तर परिवर्तनशील हैं तो किसी वस्तु की पहचान या प्रत्यभिज्ञा कैसे सम्भव है? इसके (प्रत्यभिज्ञा) उत्तर में, बौद्ध मत यह कहता है कि वस्तुएँ दो क्षणों में समान होती हैं, परन्तु ये एक ही नहीं होती हैं। हम समानता को एकता के रूप में भ्रम के कारण स्वीकार करते हैं। स्मृति की व्याख्या के लिए बौद्धों का यह कहना है कि प्रत्येक क्षण पूर्व के क्षण से संस्कार लेता है तथा पश्चात् क्षण को यह संस्कार दे देता है अर्थात् प्रत्येक पश्चगामी क्षण अपने पूर्वगामी क्षण की सभी सम्भावनाओं को अपने में समाहित किए रहता है और इस प्रकार जहाँ वातावरण अनुकूल होता है वहाँ सन्तान का उदय हो जाता है अतः मानव आत्ममय न होकर सन्तानमय है। आत्मा केवल संघात नहीं है अपितु पुनर्संघातित वस्तु भी है। इसी के आधार पर बौद्ध दर्शन नैतिक उत्तरदायित्व की भी व्याख्या करता है। बौद्ध दर्शन के सुत्तों तथा जातक कथाओं से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि किसी पापी को

उसके कर्मों का फल मिलेगा। बौद्ध दर्शन द्रव्य एकता का खण्डन करता है, लेकिन उसके स्थान पर निरन्तरता को मानता है। यदि हम दो श्रृंखलओं को इस प्रकार प्रदर्शित करें अ1, अ2, अ3,... और ब1, ब2, ब3,... यद्यपि ये दोनों श्रेणियाँ एक–दूसरे से भिन्न हैं और प्रत्येक श्रेणी के सदस्य भी एक–दूसरे से भिन्न है, लेकिन एक श्रेणी के सदस्यों में सन्तानगत धर्म समान हैं। यही समान धर्म उसे दूसरी श्रेणी से पृथक करते हैं। अतः बौद्ध मत 'एक प्रयाहित आत्मा' को स्वीकारता है। बहुत सारे विचारकों ने यह मत व्यक्त किया है कि बौद्ध दर्शन में इस प्रकार से प्रच्छन्न रूप से आत्मा को स्वीकार कर लिया गया है। यह आत्म क्षणिक संवेदनाओं से ऊपर है, क्योंकि श्रृंखला कभी भी स्वयं अपनी प्रत्यभिज्ञा नहीं कर सकती। कुछ अन्य का कहना है कि बुद्ध ने आत्मा का खण्डन नहीं किया था लेकिन उनके परवर्ती अनुयायियों ने आत्मा का खण्डन किया। यद्यपि यह विवादास्पद बिन्दु है, लेकिन यह बिल्कुल सिद्ध है कि बौद्ध दर्शन में नैरात्म्यवाद और क्षणिकवाद का प्रभुत्व है।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन चार भूतों की चर्चा करता है– पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु। बौद्ध आकाश के प्रत्यय में विश्वास नहीं करते। लेकिन हमें यह समझना चाहिए कि ये धर्मभूत केवल धर्मों जैसे कठोरता, द्रवता, ताप तथा दबाव आदि का संकेत मात्र करते हैं। ये धर्मी का संकेत नहीं करते हैं। सम्पूर्ण जड़ जगत् तथा शारीरिक संघात इन्हीं से निर्मित है। मनोवैज्ञानिक चित्त को बौद्ध मत में धर्म धातु कहा गया है। ये धर्म धातु मनोवैज्ञानिक भावों के उदय के कारण हैं। इसके दो आयाम हैं– व्यावहारिक आयाम तथा पारमार्थिक आयाम या तथता।

बौद्ध दर्शन का कारणमूलक सिद्धान्त व्यवहार पर ही लागू होता है और इसी के आधार पर पारमार्थिक आयाम का बोध हो जाता है। धर्म धातु प्रथम अर्थ में व्यावहारिक अस्तित्ववाले तत्वों को संकेत करता है। प्रतीत्यसमुत्पाद यह बताता है कि सभी सत्ताएं परस्पर सापेक्ष हैं तथा एक दूसरे पर निर्भर हैं, जड़ और मन भी एक–दूसरे पर निर्भर हैं। धर्म धातुजगत् की दृष्टि से परिवर्तनशील संसार का संकेत करता है, जिसमें जन्म–मृत्यु और जरा आदि होते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद सापेक्षता का सिद्धान्त है। कोई भी प्राणी इसका उल्लंघन नहीं करता है। अतः इस अर्थ में केवल प्रज्ञावान बुद्ध ही धर्म धातु के ऊपर हैं। तथता के अर्थ में धर्म धातु निर्वाण है। यह निर्वाण की अवस्था है, जो बन्धन और परिवर्तन से ऊपर है।

16.4 बौद्ध दर्शन की नैतिक शिक्षाएं

बौद्ध दर्शन की नैतिक शिक्षाएँ उसकी सैद्धान्तिक शिक्षाओं से संगति रखती हैं। यदि सभी वस्तुएं अनित्य हैं, तो उनका संग्रह अपने लिए या दूसरे के लिए अर्थहीन है। उनकी इच्छा भी भ्रमात्मक है। हमें अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। उनकी तृष्णा हमें स्वयं अस्तित्व की तृष्णा प्रदान करती हैं। यदि कोई आत्मा नहीं है, तो हमें इस तृष्णा से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। आत्म निषेध से आत्मा के लिए प्राप्त की जाने वाली वस्तुओं की तृष्णाएं स्वय समाप्त हो जाती हैं और इनके साथ ही प्रेम और घृणा के बीज भी नष्ट हो जाते हैं। आत्मा में विश्वास भ्रामक है। ऐसा विश्वास अविद्या के कारण ही है, जो दोषपूर्ण है। उपनिषदों की तरह यहाँ भी अशुभ को अविद्या से उत्पन्न बताया गया है और उससे छुटकारा सम्यक् ज्ञान से ही हो सकता है। लेकिन दोनों दर्शनों मे अविद्या का अर्थ भिन्न–भिन्न है। उपनिषदों में अविद्या तात्विक एकता के अज्ञान को दर्शाती है, लेकिन बौद्ध दर्शन में यह अपने खोखलेपन को जानने में असमर्थता को दर्शाती है। बौद्ध दर्शन में सम्यक् ज्ञान चार आर्यसत्यों का ज्ञान है। ये है:

- दुःखः संसार में दुःख व्याप्त है।
- दुःख–समुदयः दुःख का कारण है।
- दुःख–निरोधः दुःख का निदान है।
- दुःख–निरोध–प्रतिपदा–गामिनीः दुःख निदान का मार्ग है।

भगवान बुद्ध के अनुसार चार आर्य सत्यों का अज्ञान ही दुःख और जन्म–मृत्यु के चक्कर में डालता है। बुद्ध ने दुःख को रोग के रूप में लिया और इससे छुटकारा पाने के लिए वैद्य की तरह वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया। जब उन्होंने इसके यथार्थ कारण को जान लिया तब उन्होंने निदान का निरूपण किया। बिना भली प्रकार विश्लेषण किये किसी रोग से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। इसलिए भगवान बुद्ध ने दुःख–समुदय के ज्ञान के पश्चात् ही इसके निदान का उपदेश दिया। इसलिए भगवान् बुद्ध को कुशल चिकित्सक भी कहा जाता है। प्रथम तीन आर्य सत्य भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं के सैद्धान्तिक आयाम को प्रदर्शित करते हैं जबकि चतुर्थ आर्य सत्य उनके व्यावहारिक नैतिक आयाम को प्रदर्शित करता है।

प्रथम आर्यसत्य यह घोषणा करता है कि सब कुछ दुःखमय है। बौद्ध ग्रन्थ बारम्बार कहते हैं कि जन्म दुःखमय है। विनाश दुःखमय है। अशुभ के साथ संयोग दुःखमय है। शुभ के साथ वियोग दुःखमय है। तृष्णा का पूर्ण न होना दुःखमय है। संक्षेप में पाँच स्कन्ध (रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार) जो राग के कारण संकलित होते हैं, दुःखमय हैं।

द्वितीय आर्यसत्य दुःख के कारण का निरूपण करता है, क्योंकि कोई भी घटना अकारण नहीं होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद का सूत्र 'अस्मिन् सति इदं भवति' इसी को प्रदर्शित करता है। बुद्ध के अनुसार इस कारण का मूल अविद्या है। बुद्ध ने उस क्रम का निरूपण किया जिसके माध्यम से अविद्या अशुभ को जन्म देती है। इसे द्वादश–निदान कहते हैं जो इस प्रकार हैं–

अविद्या

संस्कार

विज्ञान

नामरूप

षडायतन (पांच इन्द्रिय एवं मन अपने विषयों सहित)

स्पर्श (इन्द्रिय–विषय सम्पर्क)

वेदना

तृष्णा

उपादान

भव

जाति (जन्म–पुनर्जन्म)

जरा–मरण

यह क्रम केवल इस जन्म से ही सम्बन्धित नहीं है अपितु पूर्व और अग्रिम जन्म से भी सम्बन्धित है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि दुःख के मूल कारण अविद्या से इच्छा और इच्छा से क्रिया का जन्म होता है, जिससे पुनर्जन्म और नयी इच्छा की संभावना प्रबल हो जाती है। इसे संसार–चक्र या भवचक्र कहा जाता है।

तृतीय आर्यसत्य दुःख निरोध की चर्चा करता है। अस्तित्व की श्रृंखला को तोड़ने का अर्थ है भव–निरोध। द्वादश निदान के प्रत्येक सदस्य के उत्पन्न होने के पीछे कोई न कोई कारण होता है। यदि कारण सामग्री हटा दी जाए जो कार्य भी हट जाता है। जब इच्छाओं का विनाश होता है तो लोभ, घृणा ओर मोह के भी बीज नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार हम द्व ादश–निदान की श्रृंखला को भंग कर सकते हैं। निर्वाण का उद्देश्य सभी प्रकार के दुःखों का निरोध और जन्म–मृत्यु के चक्कर से छुटकारा पाना है। बौद्ध कारण सिद्धान्त द्वादश निदान के रूप मे घटना चक्र के उत्पन्न के उन कारणों का निरूपण करता है, जो दुःख को जन्म देते हैं, लेकिन इस क्रम को अनिवार्य रूप से बने रहना जरूरी नहीं है। इस श्रृंखला का प्रारम्भ है लेकिन इसका अन्त भी किया जा सकता है।

चतुर्थ आर्य सत्य उस मार्ग की चर्चा करता है जिसके माध्यम से हम निर्वाण तक पहुँच सकते हैं और दुःखों से छुटकारा पा सकते हैं। संसार से छुटकारा दिलाने वाला और मनुष्य को मुक्ति दिलाने वाला आष्टांगिक मार्ग यह है:–

सन्यक् दृष्टि, सन्यक् संकल्प, सन्यक् वाक्, सन्यक् कर्मान्त, सन्यक् आजीव, सन्यक् व्यायाम, सन्यक् स्मृति, सन्यक् समाधि।

संक्षेप में, चार आर्य सत्यों का सन्यक् ज्ञान अथवा प्रज्ञा समस्त साधना का आधार है। प्रज्ञा केवल बौद्धिक विश्वास नहीं है, अपितु साक्षात् अनुभूति है। बुद्ध ने कहा है कि निर्वाण स्वश्रम का फल है। इसकी प्राप्ति शील और समाधि से होती है। शील का अर्थ है सन्यक् आचार जिसके अन्तर्गत् सत्य, संतोष और अहिंसा जैसे सद्गुण आते हैं। समाधि ध्यान है जिसके माध्यम से मन शान्त होकर तत्त्व का स्पष्ट और पूर्ण साक्षात्कार करता है।

सन्यक् आजीव जनों के लिए पृथक बताया गया है। अतः यह श्रमणों के आचार से पृथक् है लेकिन दोनों के लिए यह बहुत कठोर नहीं है बुद्ध ने मध्यम मार्ग अपना कर स्वार्थ सुख और स्व के लिए कठोर तप दोनों के परित्याग करने पर बल दिया है। अधिक भौतिक सुखों में रमना आर्यों के लिए श्रेयस्कर नहीं है। अधिक तप से मन अशान्त होता है। पूर्ण मार्ग दोनों के मध्य में है। यह मध्यमा प्रतिपदा चक्षु प्रदान करने वाली, मन को शान्ति देने वाली, बुद्धि को ज्ञान देने वाली तथा मानव को निर्वाण देने वाली है।

16.5 निर्वाण

समस्त साधना का उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करना है। निर्वाण चरम लक्ष्य है और जिसने उसको उपलब्ध कर लिया है, वह अर्हत् है। बौद्धों के लिए निर्वाण वही है, जो हिन्दुओं के लिए मोक्ष है, चीन के रहस्यवादियों के लिए ताओ है, सूफियों के लिए फना है, और क्राइस्ट के अनुयायियों के लिए नित्य जीवन है। निर्वाण का मूल अर्थ है 'बुझ जाना।' यह राग दोष और मोह रूपी अग्नि का शान्त होना है। जहाँ यह शान्त होता है, वहाँ पूर्ण शान्ति की प्राप्ति होती है। शरीर के विनाश के पश्चात् परिनिर्वाण की प्राप्ति होती है। अतः निर्वाण मरने की बाद की अवस्था नहीं है अपितु रागों के क्षय से इस जीवन में प्राप्त होने वाली

अवस्था है। अर्हत्, शरीर और मन के नाश के बाद, परि–निर्वाण की अवस्था को प्राप्त करता है। अतः निर्वाण के दो आयाम हैं जिसे दो शब्दों 'बुझना' और 'शान्त होना' से कहा जा सकता है। एक निषेधात्मक पहलू को दर्शाता है तथा दूसरा भावात्मक पहलू को। इसे केवल वैचारिक माध्यम से नहीं जाना जा सकता है। अपितु यह स्व के अनुभव का विषय है। इसलिए बुद्ध ने अपने अनुयायियों से कहा है– 'आत्मदीपो भव'।

16.6 कर्म

बौद्ध दर्शन पर कोई भी चर्चा अन्तिम रूप से कर्म की चर्चा किए बिना सम्पन्न नहीं हो सकती। यह बौद्ध दर्शन का अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। बौद्धों ने मानव अस्तित्व को धर्मों के संघात के रूप मे देखा है। जिसमें कोई नित्य पदार्थ नहीं है। अतः आत्मा को अस्वीकार करने से बौद्ध दर्शन का पुनर्जन्म का सिद्धान्त असंगत प्रतीत होता है। डायसन ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि उपनिषदों की तरह बौद्धों के लिए एक ऐसी नित्य आत्मा को मानना आवश्यक है जो व्यक्तिगत रूप से क्रमों का फल भोगती हो तथा जन्मान्तर में रहती हो। इसके निषेध के कारण तथा पुनर्जन्म को मानने के कारण बौद्धों का मत व्याघाती प्रतीत होता है। लेकिन वास्तव में यह सिद्धान्त बौद्ध दर्शन के लिए कोई तार्किक कठिनाई पैदा नहीं करता है। यदि कर्ता के बिना क्रिया हो सकती है, तो आत्मा के बिना पुनर्जन्म भी हो सकता है।

कर्म का अर्थ एकाकी क्रिया है। यह कहने में कोई दोष नहीं है कि कर्म अनित्य है अतः उनको धारण करने वाला भी अनित्य है। लेकिन यह कैसे कहा जा सकता है कि कर्मों को धारण करने वाला (अनित्य तत्व) पुनर्जन्म लेता है, क्योंकि जब व्यक्ति मरता है तो उसका कर्त्तापन उसी समय नष्ट हो जाता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार यद्यपि कोई व्यक्ति विशेष पुनर्जन्म नहीं ले सकता, लेकिन एक दूसरा उसी के स्वभाव वाला जन्म ले सकता है, ठीक उसी प्रकार से जैसे एक जलते हुए दीपक से एक दूसरे दीपक को जलाकर उसके प्रकाश और ताप का संचारण किया जा सकता है। पुनः, बौद्ध मत के अनुसार प्रत्येक क्षण में हम पुनर्जन्म लेते हैं केवल जीवन के अन्तिम काल के बाद ही पुनर्जन्म नहीं होता है। इस सन्दर्भ में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। ये दो बातें हैं कि कर्म शब्द कर्म को भी संकेत करता है तथा कर्म से उत्पन्न प्रभाव को भी। जिससे कर्ता का स्वरूप बदल जाता है। बौद्ध दर्शन यह मानता है कि पुनर्जन्म के बाद भी सन्तान की परम्परा कायम रहती है। कर्म का अर्थ पूर्वजों से प्राप्त गुण नहीं हैं अपितु पूर्व जन्म से प्राप्त सन्तान की धारा से उत्पन्न कर्म हैं।

संयुक्त निकाय के (3.1.4) में कहा गया है कि "कोई भी जो अपने से प्रेम करता है, उसे बुरी आदतों से दूर रहना चाहिए क्योंकि सुख बुरी आदतों में नहीं पाया जाता।" अतः बुद्ध यह घोषणा करते हैं कि इस जन्म के पुण्य अगले जन्म में अपना प्रभाव दिखाते हैं। *मिलिन्दपन्हो* में यह कहा गया है कि जगत् में असमानता का मूल कर्म है।

बौद्धों ने फलात्मक कर्म और निस्फलात्मक कर्म में भेद किया है। जब कर्म लालच, घृणा और द्वेष से परिचालित होकर किये जाते हैं, तो ये अपने फलों को इस जन्म में या अगले जन्म में देते हैं लेकिन जो कर्म लालच, घृणा और द्वेष से परिचालित नहीं होते, ये अगले जन्म में इस प्रकर के फल नहीं देते हैं।

बुद्ध यह स्पष्ट करते है कि एक ही कर्म दो व्यक्तियों द्वारा किये जाने पर मनोभावों, में भेद होने से पृथक्–पृथक् दण्ड और पुरस्कार या फल दे सकता है। *अंगुत्तर निकाय* में स्पष्ट किया गया है कि एक ही कर्म दो व्यक्तियों द्वारा समान रूप से करने पर भी जो दुष्ट हैं अर्थात् जो प्रज्ञा–शील–समाधि में प्रवीण नहीं है तथा जो बुराइयों से घिरा है, यह इनका फल इस जन्म में भी ओर नर्क में भी भोगेगा। इसके विपरीत, प्रबुद्ध, जो अपने आचार–विचार में जाग्रत् है, उसे यहाँ भी निर्मूल कर सकता है। नर्क का अर्थ यहाँ दण्ड की कठोरता है। बुद्ध ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा कि एक ही नमक का रोड़ा यदि एक ग्लास पानी में डाला जाय तो उसका स्वाद नमकीन होगा लेकिन गंगा में डालने से कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

जरा–मरण के चक्र को भवचक्र कहते हैं। यह तब तक चलता रहेगा जब तक इसके प्रति व्यक्ति की तृष्णा रहेगी। इसके परे जाकर निर्वाण की प्राप्ति चार आर्य सत्यों के ज्ञान से हो सकती है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. भगवान बुद्ध के अनुसार चार आर्य सत्य क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

2. भगवान बुद्ध के अनुसार निर्वाण क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

16.7 सारांश

उपरोक्त विवेचन में हमने देखा कि बुद्ध के अनुसार आत्मा प्रवाहमान, सन्तान युक्त है। अतः आत्मा को न मानते हुए भी पुनर्जन्म को या कर्म सिद्धान्त को मानना दोष पूर्ण नहीं है। इसका अर्थ मात्र इतना है कि जो कुछ भी घटता है उसका संग्रह संस्कार रूप में कहीं न कहीं होता रहता है और उसे ही कर्त्ता कहा जाता है। बुद्ध ने इस इस समस्त सिद्धान्त को

बौद्धिकता प्रदान की तथा जड़वादी और अध्यात्मवादी आवरण से मुक्त किया। अतः बौद्ध दर्शन में कर्म सिद्धान्त नैतिकता के क्षेत्र में स्व–परिचालित होने वाला एक सिद्धान्त है।

16.8 कुंजी शब्द

जातक कथा : जातक कथाओं का सम्बन्ध बुद्ध के अनेक जन्मों से है। थेरवाद में इसका विस्तृत साहित्य है। ये *सत्त खुद्दक निकाय* के अन्तर्गत् आती हैं, जो *सुत्त पिटक* का भाग है। जातक का अर्थ इस ग्रन्थ पर टीका से ही है।

16.9 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

ग्रीम, जी. *द डॉक्ट्रिन ऑफ बुद्धा.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1965.

जान्सन. अर्ली. *बुद्धिस्ट थ्योरी ऑफ नालेज.* लन्दनः जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि., 1971.

डेविस, रीस. *ए मैनुअल आफ बुद्धिज्म.* लन्दनः मिथयुन, 1934.

प्रसाद, एच एस. द सेन्ट्रलिटी ऑफ एथिक्स इन बुद्धिज्म. देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 2007.

मूर्ति, टी.आर.वी. *द सेन्ट्रल फिलोसॉफी आफ बुद्धिज्म.* लन्दनः जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि, 1929.

यारेन, एच.सी. *बुद्धिज्म इन ट्रान्शलेशन्स.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1987.

राधाकृष्णन्, एस. (ट्रांस.) *धम्मपद.* लन्दनः ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1956.

शेरवात्स्की. *द सेन्ट्रल कन्सेप्सन ऑफ बुद्धिज्म.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1974.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

सूरी, हरिभद्र. *षडदर्शनसमुच्चय.* अनुवाद– कामेश्वरनाथ मिश्र. वाराणसीः चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1979.

16.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. जब सिद्धार्थ ने आँखे खोली तो जगत् को दुःख से भरा हुआ पाया और इसका हल पाने के लिए वो बेचैन हो गये। उनके लिए व्यक्तिगत जीवन में पायी जाने वाली (दुःख, बीमारी, वृद्धावस्था आदि) यह समस्या एक सार्वभौम समस्या का उदाहरण है। जब उन्होंने जाना कि इन्द्रिय सुख अर्थहीन है, निःसार है, तो उन्होंने राज्यभोग के सुखों को परित्याग कर उस समय की परिपाटी के अनुसार सत्य के अन्वेशण के लिए जंगल का आश्रय लिया।

2. यद्यपि बौद्ध दर्शन एक नास्तिक दर्शन है तथा औपनिषदिक दर्शन से भिन्न है, फिर भी यह मत कुछ औपनिषदिक धाराओं को परिपक्व करता हुआ दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए, उपनिषदों में वैयक्तिक ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है और बुद्ध ने पूरी तरह से ईश्वर के प्रत्यय को ही नकार दिया। उपनिषदों में आत्मा का नेति–नेति करके वर्णन किया गया है और भगवान बुद्ध ने इसका पूर्णरूप से परित्याग कर दिया। कर्म सिद्धान्त में विश्वास पुनः बौद्ध दर्शन पर उपनिषदों के प्रभाव को परिलक्षित करता है।

बोध प्रश्न 2

1. बौद्ध दर्शन में विद्या का अर्थ चार आर्य सत्यों का ज्ञान है, जो इस प्रकार है–

   दुःख

   दुःख–समुदाय

   दुःख–निरोध

   दुःख–निरोध–प्रतिपदा–गामिनी

2. निर्वाण का अर्थ है, 'बुझ जाना' या 'शान्त हो जाना'। यह राग, द्वेष और मोह की अग्नि का शान्त हो जाना है। बुझने की अवस्था और शान्ति प्राप्त करने की अवस्था एक ही सिक्के के दो पहलू है। शरीर के नष्ट होने के बाद जब यह अवस्था प्राप्त होती है तो उस परिनिर्वाण कहते हैं, लेकिन शरीर के रहते हुए भी यह अवस्था प्राप्त की जा सकती है। इस अवस्था में हमारे राग और द्वेष नष्ट हो जाते है तथा चित्त शान्त हो जाता है। इस अवस्था में जीव को अर्हत् कहते है। बुझना और शान्त होना निर्वाण के निषेधात्मक और भावात्मक पहलू को दर्शाते हैं, जिसका बोध स्वानुभव गम्य है। इसलिए, भगवान बुद्ध ने अपने अनुयायियों से कहा कि "यह सत्य के ज्ञान के लिए स्वयं आगे आये अर्थात् आत्म दीपो भव।'

इकाई 17 बौद्ध दर्शन–II[17]

रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 परिचय

17.2 वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय

17.3 योगाचार सम्प्रदाय

17.4 माध्यमिक सम्प्रदाय

17.5 बौद्ध सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि

17.6 माध्यमिक का शून्यवाद

17.7 सारांश

17.8 कुंजी शब्द

17.9 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

17.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध दर्शन व्यावहारिक है एवं आचार को प्रमुखता देता है। इनके दर्शन का प्रमुख लक्ष्य दुःख निरोध है। इसलिए इस दर्शन में तत्त्वमीमांसीय ऊहा–पोह के लिए स्थान कम है। लेकिन भगवान बुद्ध के उपदेशों में उनके अनुयायियों की दृष्टि से अनेक अस्पष्टता विद्यमान थी। जिसके कारण उनकी अनेक व्याख्याएं हुईं। इससे बौद्ध परम्परा में अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ। विद्वानों के अनुसार किसी समय अकेले भारत में अट्ठारह बौद्ध सम्प्रदाय थे। लेकिन सुविधा के लिए इन संप्रदायों का वर्गीकरण मुख्यतः दो भागों– हीनयान और महायान में किया जाता है। इस इकाई में आप निम्नांकित तथ्यों से अवगत होंगे–

- वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय
- बौद्ध दर्शन का योगाचार सम्प्रदाय
- माध्यमिक सम्प्रदाय
- बौद्ध सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि
- माध्यमिक का शून्यवाद

[17] प्रो. सुधा गोपीनाथ, कोसामंगलम, वेंगसोर, अनुवाद– प्रो. ए के राई, बीएचयू, वाराणसी

17.1 परिचय

बोधि प्राप्ति के पश्चात् भगवान बुद्ध ने सर्वप्रथम अपने पाँच शिष्यों को सारनाथ में अपने साक्षात्कृत सत्य का उपदेश दिया। जिसे धर्म–चक्र प्रवर्तन की संज्ञा दी गयी। धीरे–धीरे शिष्यों की संख्या बढ़ती चली गयी और एक ऐसी संगत उत्पन्न हो गयी जो इस धर्म के प्रचार के लिए कटिबद्ध थी। कालान्तर में बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार हुआ और विश्व में एक नये धर्म का अभ्युदय हुआ। जब बुद्ध ने अपने पिता के राज्य में प्रवेश किया, तो उनके परिवार के लोग भी उनके शिष्य हो गए। अपने प्रिय शिष्य आनन्द को उन्होंने अन्तिम उपदेश दिया और 80 वर्ष की अवस्था में उनका निर्वाण हुआ।

बौद्ध दर्शन के प्रारम्भिक काल में ही इसके विभिन्न दार्शनिक समुदायों में विवाद उत्पन्न हो गया। बुद्ध के पश्चात् दो बौद्ध संगीतियां हुई। प्रथम संगीति बुद्ध के देहान्त के तुरन्त बाद और दूसरी संगीति देहान्त के सौ वर्ष पश्चात् हुई। द्वितीय संगीति में बड़ा विवाद हुआ और महासांघिकों ने संघ की क्रिया शैली तथा कुछ निश्चित सैद्धान्तिक मतभेदों के चलते अपना सम्प्रदाय पृथक कर लिया। ये स्वयं को बुद्ध की शिक्षाओं के प्रति समर्पित बताते थे एवं इसलिए उन्होंने अपने दार्शनिक सम्प्रदाय को थेरवाद (महायान) 'बड़ों का सिद्धान्त' कहा। शाब्दिक अर्थ में महायान अर्थ 'बड़ायान' है और हीनयान का अर्थ 'छोटायान' है। स्पष्ट है कि हीनयान का प्रयोग महायानियों ने उनको नीचा दिखाने के लिए किया होगा।

बौद्ध दर्शन के मुख्य सिद्धान्त तत्त्वमीमांसीय और धर्मशास्त्रीय न होकर मनोवैज्ञानिक हैं। लेकिन बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके अनुयायी सूक्ष्म तत्त्वमीमांसीय तर्कों में उलझ कर रह गए। भगवान बुद्ध को प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान हुआ था जिसका मूल चार आर्य सत्यों में निहित था। थेरवाद या हीनयानी बौद्धों का कहना है कि ये ही बुद्ध के असली समर्थक हैं ओर ये ही उनकी शिक्षाओं के प्रति समर्पित हैं। लेकिन महायानियों का कहना है कि भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं के वास्तविक रहस्य को महायान प्रदर्शित करता है। महायान बौद्धों का कहना है कि यह जो सम्प्रदायगत भेद दिखाई पड़ता है, उसका कारण यह है कि हीनयान द्वारा स्वीकृत उपदेश उन निम्न कोटि के साधकों के लिए दिया गया था जो बौद्ध मत की यथार्थ और उच्च शिक्षाओं को धारण करने में असमर्थ थे। सत्य कुछ भी हो लेकिन हीनयान और महायान दोनों की शिक्षाएं प्रारम्भिक बौद्ध धर्म से भिन्न हैं। तथापि यह भी सत्य है कि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में ही विभिन्न सम्प्रदायों के बीज निहित हैं। जिसने इन सम्प्रदायों को अलग–अलग दिशा में सोचने को प्रेरित किया। विद्वानों के अनुसार बौद्ध दर्शन के चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं; योगाचार, माध्यमिक, वैभाषिक और सौतान्त्रिक। योगाचार और माध्यमिक महायान के सम्प्रदाय हैं। वैभाषिक और सौत्रान्तिक यथार्थवादी या सर्वास्तिवादी हैं, विश्व की देश और काल में उपस्थित स्वसत्ता है, ऐसा विश्वास रखते हैं। जबकि योगाचार विज्ञानवादी हैं और माध्यमिक शून्यवादी हैं।

बौद्ध दर्शन के उत्तर कालीन सम्प्रदायों के विषय में साहित्य ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी में सामने आया। लेकिन उनमें से कुछ संस्कृत ग्रंथ नष्ट हो गये हैं। वैभाषिक सम्प्रदाय के मुख्य प्रवर्तक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति हैं। दिङ्नाग का काल विद्वानों के अनुसार 500 ई. है। दिङ्नाग का प्रमुख ग्रन्थ *प्रमाणसमुच्चय* है। धर्मकीर्ति का प्रमुख ग्रन्थ *न्यायबिन्दु* है। कुमारलाभ को सौत्रान्तिक का प्रवर्तक कहा जाता है। योगाचार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य असंग और वसुबन्धु हैं। ये दोनों भाई थे तथा संभवतः तीसरी शताब्दी में थे। ऐसा कहा जाता है कि वसुबन्धु प्रारम्भ में यथार्थवादी अर्थात् सौत्रान्तिक थे, लेकिन अपने भाई असंग के प्रभाव के कारण बाद में विज्ञानवादी बन गये।

वसुबन्धु का *अभिधर्मकोश* विज्ञानवाद सम्प्रदाय का एक प्रमुख ग्रन्थ है। इन्होंने इस पर टीका भी लिखी है। इसमें तत्वमीमांसा, मनोविज्ञान, खगोल विज्ञान, मुक्ति का सिद्धान्त, आचारों की चर्चा तथा और भी अन्य सिद्धान्त हैं जिनको अधिकांश बौद्ध मत स्वीकार करते हैं। योगाचार सम्प्रदाय का अन्य ग्रन्थ *लंकावतारसूत्र* है। नाम से स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध लंका से है तथा ऐसा विश्वास किया जाता है कि भगवान बुद्ध ने इसका उपदेश लंका के राजा रावण को दिया था। माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य नागार्जुन हैं। यह एक महान चिन्तक थे तथा कुछ विद्वान यह भी विश्वास करते हैं कि यह अश्वघोष के शिष्य थे, जिनका काल ईसा के बाद 100वीं शताब्दी का है। अश्वघोष एक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक, कवि और नाटककार थे। उनके प्रमुख ग्रन्थों *बुद्धचरित, सौन्दरानन्द* तथा नाटक *सारिपुत्रप्रकरण* के द्वारा बुद्ध की शिक्षाओं का और उनके जीवन का चित्रण प्राप्त होता है। नागार्जुन का ग्रन्थ मूल *माध्यमिक–कारिका* एक अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस पर चन्द्रकीर्ति ने टीका लिखी। आर्यदेव का *सत् शास्त्र* या *चतुःशतक* इस सम्प्रदाय का एक और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। आर्यदेव नागार्जुन के शिष्य थे।

17.2 वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय

प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से हीनयान को सर्वास्तिवाद कहा जाता है। सर्वास्तिवाद का मानना है कि चित्त को विषय का ज्ञान होता है। ज्ञान में वस्तु प्रकाशित होती है, निर्मित नहीं। वस्तु हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। हीनयानी चिन्तक या सर्वास्तिवादी यह विश्वास करते हैं कि वस्तुएं क्षणिक होते हुए भी बाह्यार्थ के रूप में अपना अस्तित्व रखती हैं। लेकिन वैभाषिकों का यथार्थवाद सौत्रान्तिकों से भिन्न है। वैभाषिक यह विश्वास करते हैं कि वस्तु का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है जबकि सौत्रान्तिक यह मानते हैं कि उनका साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष के समय उनका आस्तित्व क्षणिक होने के कारण वर्तमान नहीं रहता है। साक्षात् बोध होने में वस्तु का अस्तित्व दो क्षण के लिए मानना पडेगा। प्रथम क्षण जब वस्तु ज्ञाता के मन को संवेदित करती है और दूसरा क्षण यह है जब वस्तु का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। अतः साक्षात् बोध केवल सन्तान के उत्तरवर्ती सदस्य का होता है, वस्तु का नहीं। लेकिन सन्तान के सभी सदस्य नष्ट होने के पूर्व अपना संस्कार प्रत्यक्षकर्ता के मन पर छोड़ देते हैं और इस संस्कार (आकार) से ही हम यथार्थ वस्तु के अस्तित्व का अनुमान करते हैं। अतः तथाकथित प्रत्यक्ष वास्तव में भूतकाल का निर्देश करता है और वास्तव में यह अनुमान है। बाह्यवस्तुओं का साक्षात् प्रत्यक्ष वस्तुओं की प्रतिलिपि अथवा प्रतिबिम्ब हैं। इस प्रकार सौत्रान्तिक सिद्धान्त प्रत्यक्ष के प्रतिबिम्बवादी सिद्धान्त को मानता है। लेकिन ये यथार्थवादी इसलिए कहलाते हैं क्योंकि ये बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को मानते हैं। यदि बाह्य वस्तुओं अस्तित्व नहीं होगा तो सबकुछ भ्रमात्मक हो जाएगा।

सौत्रान्तिकों के विपरीत, वैभाषिक यह मानते हैं कि वस्तुओं का साक्षात् बोध होता है। ये कहते हैं कि सौत्रान्तिकों की स्थिति अनुभव के विपरीत है। प्रत्यक्ष को अनुमान नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष के बिना अनुभव नहीं हो सकता। लेकिन यह आक्षेप उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सौत्रान्तिकों के अनुसार वस्तु का अस्तित्व अनुमान का विषय नहीं है किन्तु उनका ज्ञान अनुमेय है। ये केवल ज्ञान की प्रक्रिया की व्याख्या करते हैं। वास्तव में, वैभाषिक और सौत्रान्तिक में बहुत कम अन्तर है। दोनों सम्प्रदाय यह विश्वास करते हैं कि स्वलक्षण (विशेष) ही यथार्थ है और सामान्य लक्षण (सामान्य) कल्पना है। सामान्य के विषय में दोनों नामवादी है। ये सामान्य के वास्तविक रूप को नहीं मानते हैं। बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष के विषय में 'प्रमाण' शीर्षक के अन्तर्गत् विचार किया जाएगा।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. बुद्ध के मौन पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2. बौद्धों के विभिन्न सम्प्रदायों के नाम बताइये?

.....

.....

.....

.....

.....

17.3 योगाचार सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का एक दूसरा नाम विज्ञानवाद है। जैसा कि नाम से ही ध्वनित होता है, यह सम्प्रदाय आत्मनिष्ठ विज्ञानवादी है। ऐसा कहा जा सकता है कि विज्ञानवाद सौत्रान्तिकों के प्रतिबिम्बवादी सिद्धान्त का प्रतिफल है। अनुभव के तीन प्रमुख घटकों अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में से विज्ञानवादियों के लिए मात्र ज्ञान यथार्थ है। न ज्ञाता है, न ज्ञेय है अपितु केवल विज्ञानों का प्रवाह है। किसी विशेष समय में ज्ञान का स्वरूप वस्तु के द्वारा निर्धारित न होकर अतीत संस्कारों के द्वारा निर्धारित होता है; अर्थात् वेदना आन्तरिक है (बाह्य) नहीं। चैतन्य को छोड़कर किसी भी वस्तु का अनुभव नहीं होता है, इसलिए चित्त और वस्तु एक ही हैं। क्षणिकवाद के आधार पर योगाचार द्रव्यों का खण्डन करता है और वस्तुओं को क्षणिक प्रवाह भर मानता है। चूंकि क्षणिक रूप में वस्तुएं अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकतीं, अतः विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यवस्तु को मानना सम्भव नहीं है। अतः बाह्य जगत् केवल ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से ही नहीं अपितु सत्तामीमांसीय दृष्टि से भी चेतना सापेक्ष है। स्वप्न के उदाहरण से योगाचार यह सिद्ध करता है कि वस्तु के बिना भी वस्तुबोध होता है। ज्ञान का स्वयं संवेदन होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय दोनों की एकता होती है। जिन्हें हम वस्तुएं कहते हैं, ये विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार से प्रतिभासित होती हैं और एक ही व्यक्ति को विभिन्न काल में भिन्न–भिन्न रूप से प्रतिभासित होती है। ऐसा इसलिए संभव होता है क्योंकि वस्तुओं का बाह्य अस्तित्व है ही नहीं। किन्तु योगाचार द्वारा प्रस्तुत तर्क आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद की सिद्धि के लिए बहुत प्रबल नहीं दिखाई पड़ता है, क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय का सन्निकर्ष आत्मनिष्ठ पहलु रखते हुए भी बाह्य वस्तु का संकेत कर सकता है।

विज्ञानवाद के सिद्धान्त को संक्षेप में निम्नांकित प्रकार से प्रकट किया जा सकता है:

ज्ञान में जिसकी प्रतीति होती है उसका कोई बाह्य प्रतिनिधि नहीं होता है और जो बाह्य है उसकी ज्ञान में प्रतीति नहीं होती।

ज्ञान के द्वैतवादी सिद्धान्त में प्रतिनिश्रा अर्थात् ज्ञान और वस्तु में जो सारूप्यता है उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। अज्ञात वस्तु की अबोधगम्यता यथार्थवादी परिकल्पना को संदेहास्पद बना देती है।

भ्रम या स्वप्न में आने वाली वस्तुएं, मृगमरीचिका, प्रतिबिम्ब आदि से यह सिद्ध है कि बाह्य वस्तुओं के अभाव में चेतना स्वयं अपना विषय निर्माण कर लेती है। हम अनुभव के सभी तथ्यों की व्याख्या इस आधार पर कर सकते हैं कि चेतना में कर्म के कारण अतीत वासनाएं (भूतकालीन कर्मों का प्रभाव) रहती हैं और यही चेतना के विषय के उदय का कारण होती हैं।

जिस प्रकार स्मृति में अनेक संग्रह होते हैं लेकिन स्मरण करने पर कुछ का ही स्मरण होता है, उसी प्रकार हमारी चेतना में स्थित असंख्य संस्कारों में से केवल कुछ ही किसी विशेष समय और परिस्थितियों में प्रकट हो पाते हैं तथा आन्तरिक एवं बाह्य वस्तु के रूप में प्रतीत होते हैं। योगाचार इस दृष्टि से चेतना को आलय विज्ञान कहता है क्योंकि इसमें अतीत वासनाएं और संस्कार संगृहीत रहते हैं। संक्षेप में, यह कह सकते हैं कि योगाचार के अनुसार चेतना कोई अपरिवर्तनशील द्रव्य नहीं है, अपितु सतत् प्रवाहमान संस्कारों की धारा है। जब तक कोई बन्धन में है, संस्कार, विचार, इच्छा की धारा उसके चित्त में कर्म के नियम के अनुसार प्रकट होती रहती है। आसक्ति और अज्ञान पर विजय प्राप्त कर लेने पर चैतन्य की एकमात्र सत्ता का बोध होता है।

17.4 माध्यमिक सम्प्रदाय

बुद्ध की शिक्षाओं का प्रमुख प्रतिफल माध्यमिक सम्प्रदाय के रूप में आता है। इसका शाब्दिक अर्थ मध्यम मार्ग है। माध्यमिक शाश्वतवाद और उच्छेदवाद (आत्मा और शरीर के सम्बन्ध में), एकता और अनेकता, के मध्य में मध्यमार्ग का अनुगामी है। ज्ञान के विषय में इनकी दृष्टि अनोखी है। बौद्ध दर्शन के अन्य सम्प्रदाय कम से कम ज्ञाता को मानते हैं, लेकिन माध्यमिक सम्प्रदाय सम्पूर्ण ज्ञान के घटकों पर ही प्रश्न–चिन्ह लगाता है। माध्यमिक के अनुसार, सम्पूर्ण ज्ञान की आलोचना की आवश्यकता है, क्योंकि ज्ञान का कोई भी घटक स्वतः प्रामाणिक नहीं होता है। सामान्यतः हम विश्वास करते हैं कि ज्ञान के द्वारा हमें वस्तु का बोध होता है, लेकिन जब हम वस्तु का अनुसंधान करते हैं, तो हमें विरोधों का भंडार मिलता है। ज्ञान की पिपासा में मानव जगत् को भिन्न समझता है। लेकिन समस्त ज्ञान सापेक्ष है। ज्ञान यदि किसी को अभिव्यक्ति करता है तो यह निर्विकल्पक ही है। वैकल्पिक ज्ञान संवेदन और प्रत्यय से बनते हैं और नाम रूप वाले होते हैं। इसलिए दार्शनिकों के द्वारा कही जाने वाली वस्तुएं नाम और रूप वाली होती हैं। यह अविद्या है, जो दुःख का कारण है। नागार्जुन ने सम्पूर्ण वैचारिक परिकल्पना की सापेक्षता का उपदेश दिया है तथा प्रतिपादित किया है कि उनसे रागमुक्त होकर ही निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है।

विज्ञानवाद निःस्वभाववाद है, क्योंकि यह विषयी और विषय के द्वैत में विश्वास नहीं करता है। इसी प्रकार माध्यमिक भी निःस्वभाववाद है, क्योंकि इसके अनुसार भी विषयी और

विषय निरपेक्षतः अस्तित्व न रखकर सापेक्ष होते हैं। दोनों में भेद यह है कि जहाँ माध्यमिक वस्तुओं के तार्किक स्वरूप का विश्लेषण करता है तथा उन्हें सार रहित पाता है वहीं विज्ञानवाद मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत् को देखता है और वस्तु की सत्ता का निषेध करता है। उसके लिए वस्तु परिकल्पित मात्र है। विज्ञान के विकार के कारण इसकी उपलब्धि होती है। माध्यमिक के अनुसार न तो चित और न ही बाह्यार्थ (मन से भिन्न वस्तु) का निरपेक्ष अस्तित्व है। दोनों शून्य हैं। इसलिए ज्ञान व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी होता है और परिस्थिति के अनुसार वैध/अवैध हो सकता है, परन्तु इसके साथ किसी तत्वमीमांसीय महत्व को संलग्न नहीं किया जा सकता। यह मत बुद्ध के सत्य की उस कसौटी को दिखाता है, जिसके अनुसार ज्ञान हमारी अपेक्षा की पूर्णता और अपूर्णता से सत्य और असत्य होता है।

सत्य का अर्थ अपेक्षित वस्तु को उपलब्ध कराने की योग्यता है। यथार्थ ज्ञान अर्थक्रियाकारी ज्ञान है। जो अर्थक्रियाकारी नहीं है, वह भ्रामक है। अतः हमारे ज्ञान (तर्क) और अर्थक्रियाकारी में एक सम्बन्ध है। यथार्थ ज्ञान अर्थक्रियाकारी ज्ञान है। यथार्थ ज्ञान का एक दूसरा लक्षण वस्तु का अनधिगत (निर्विकल्पक; जो पहले न जाना गया हो) होना है। यह ज्ञान का प्रथम क्षण है। अन्य क्षण प्रत्यभिज्ञा मात्र हैं। दिङ्नाग के अनुसार केवल चेतना का प्रथम संस्पर्श ही ज्ञान का स्त्रोत है। वैभाषिक और सौत्रान्तिक के अनुसार, स्वलक्षण प्रदत्त होता है तथा ज्ञान में उसकी सन्तानों का बोध होता है। ज्ञान कर्म के मार्ग को आलेकित करता है और जब तक यह ऐसा करता है उसे सत्य माना जाता है। यही स्थिति अनुमान की है, जो व्याप्ति सम्बन्ध पर आधारित है। बौद्ध दर्शन के अनुसार 'सार–सम्बन्ध' परिकल्पनात्मक रूप से असत् हैं। अनुमान की प्रामाणिकता भी 'अर्थक्रियाकारित्व' पर आधारित है। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में भ्रम हो सकता है। इसलिए अर्थक्रियाकारित्व के बोध के बाद ही ज्ञान को स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन भ्रम और कल्पना में भेद करना आवश्यक है। कल्पना अयथार्थ है सकती है। लेकिन भ्रम और कल्पना में भेद करना आवश्यक है। कल्पना अयथार्थ है लेकिन सभी प्रकार के व्यावहारिक प्रत्यक्षों के लिए अनिवार्य है। कल्पना मन का आकार है। इसके विपरीत भ्रम आगन्तुक हैं और सिर्फ विशिष्ट प्रत्यक्षकर्ता को ही प्रभावित करता है।

बौद्ध दर्शन के सभी सम्प्रदाय यह मानते हैं कि ज्ञान व्यावहारिक जीवन के प्रयोजन को पूरा करता है। अतः प्रमाण के अर्थ और महत्व तथा अनुभवमूलक ज्ञान के स्रोत पर विचार करना आवश्यक है। बौद्ध दार्शनिकों में प्रमाण के अर्थ को लेकर मतभेद है। यथार्थवादी सम्प्रदाय, सौत्रान्तिक और वैभाषिक, ज्ञान और वस्तु में सारूप्यता ही प्रमाण है। माध्यमिक सम्प्रदाय के संस्थापक नागार्जुन ने प्रमाण मीमांसा को अधिक महत्व नहीं दिया है। संक्षेप में बौद्धों के लिए सभी 'प्रमाण जनित भाषागत ज्ञान' वैकल्पिक ज्ञान हैं।

प्रमाण

बौद्ध प्रमाणवादी ज्ञान को साक्षात् और परोक्ष दो भागों मे विभाजित करते हैं। दिङ्नाग के अनुसार, साक्षात् ज्ञान प्रत्यक्ष है जबकि परोक्ष ज्ञान अनुमान है। मूलतः बौद्धों ने ज्ञान के दो भेद ही स्वीकार किए हैं। ये शब्द प्रमाण को नहीं मानते हैं।

अ) प्रत्यक्ष

दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान का स्रोत है। प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो साक्षात् होता है और कल्पना से रहित होता है। इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष कल्पना से रहित है तथा नाम,

जाति आदि से भिन्न है। ध्यान देने वाली बात यह है कि यह परिभाषा न्याय दर्शन के समान इन्द्रिय–वस्तु सन्निकर्ष का उल्लेख नहीं करती है। इसलिए प्रत्यक्ष के प्रकारो में मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और यौगिक प्रत्यक्ष को ही लिया गया है। इस परिभाषा में अभ्रान्त का भी उल्लेख नहीं है। धर्मकीर्ति का मत है कि प्रत्यक्ष को अभ्रान्त भी होना चाहिए। इसका अर्थ है कि प्रत्यक्ष को स्वलक्षण का यथायत अनुगामी होना चाहिए, क्योंकि केवल स्वलक्षण ही प्रत्यक्ष में उपस्थित होता है और नाम, जाति आदि, जो सामान्य लक्षण हैं, मन द्वारा कल्पित होते हैं कल्पना के पाँच प्रकार होते हैं, जो निम्नांकित हैं:–

1) जाति कल्पना – 'सामान्य' जिसका मूल है।

2) गुण कल्पना – 'गुण' जिसका मूल है।

3) नाम कल्पना – 'नाम' जिसका मूल है।

4) कर्म कल्पना – 'क्रिया' जिसका मूल है।

5) द्रव्य कल्पना – 'पदार्थ' (द्रव्य) जिसका मूल है।

प्रत्यक्ष यह ज्ञान है, जो इन कल्पनाओं से मुक्त होता है तथा अभ्रान्त होता है। अभ्रान्त कहने का अर्थ यह है कि वस्तु का स्वरूप किसी भी प्रकार की बाह्य घटनाओं से विकृत न हुआ हो, जैसा कि उदाहरणस्वरूप, गति के कारण या जहाज में आरूढ़ होने के कारण या विभिन्न प्रकार की बीमारियों से ग्रसित होने आदि के कारण प्रायः हो जाता है। बौद्धों का सबसे प्रमुख विचार यह है कि केवल प्रथम क्षण में ही इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का साक्षात् ग्रहण होता है। इसी स्थिति में स्वलक्षण ग्राह्य होता है तथा इसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस क्षण में चित्त निष्क्रिय रहता है, लेकिन अगले क्षण में यह क्रियाशील होकर कल्पना के कारण स्वलक्षण का स्वरूप विकृत कर देता है। हालांकि कथन और भ्रम में भेद है, क्योंकि वैचारिक कथन सर्वजन सामान्य होते हैं, जबकि भ्रान्ति वैयक्तिक होती है।

सही अर्थ में भ्रम तब उपस्थित होता है जब हमें मृग–मरीचिका (रेगिस्तान में जल की प्रतीति) होती है। यहाँ वस्तु की उपस्थिति के बिना ही वस्तु प्रतीत होती है और यथार्थज्ञान के बाद वस्तु तिरोहित हो जाती है। लेकिन दो चन्द्रमा देखने के मामले में देखने वाले व्यक्ति की आँख में दोष होने क कारण ही उसे एक चन्द्रमा दो प्रतीत होते हैं यद्यपि वह जानता होता है कि चन्द्रमा एक है। इन भ्रमों के अलावा मानसिक भ्रम, स्वप्न इत्यादि भी भ्रमात्मक हैं। भ्रमों में अर्थ क्रियाकारित्व नहीं होता है, जबकि आनुभविक कथनों में अर्थक्रियाकारित्व होता है।

ब) अनुमान

परोक्षवस्तु का प्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान अनुमान कहलाता है। यह परोक्ष ज्ञान है और इस ज्ञान में लिंग (हेतु) की भूमिका होती है। अनुमिति लिंग (साध्य) पर आधारित होती है, जोकि 'अनिवार्य सम्बन्ध' यानि व्याप्ति के द्वारा लिंगी से सम्बन्धित होता है। बौद्धों में दो प्रकार की व्याप्ति स्वीकृत है; तदुत्पत्ति और तादात्मय। पहली तदुत्पत्ति (कारण–कार्य) अर्थात् हम धूम से अग्नि का अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि धूम अग्नि से उत्पन्न हुआ है। दूसरी पीपल, नीम आदि कहने मात्र से ही यह अनुमान हो जाता है कि यह वृक्ष है। यह तादात्म्य पर आधारित है। यहाँ पर वंश (वृक्ष) और जाति (पीपल) के मध्य तादात्मय का सम्बन्ध अनुमान का आधार है। बशर्ते कि जिसका अनुमान किया गया है वह जिससे अनुमान किया गया है उससे अधिक विस्तारित हो। उदाहरण के लिए, हम यह तो कह सकते हैं कि सभी पीपल वृक्ष हैं परन्तु यह नहीं कह सकते कि सभी वृक्ष पीपल हैं।

प्रत्येक अनुमान में तीन पद होते हैं– पक्ष, साध्य और लिंग। ऐसा अनुमान जो दूसरों को ज्ञान कराने के लिए प्रयोग में आता है, उसे परार्थ अनुमान तथा जो अपने ज्ञान के लिए प्रयोग मे आता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। उदाहरण स्वरूप, हम यह कह सकते हैं कि पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहाँ धूम है, जैसे रसोई घर में। इसे हम तार्किक रूप से इस प्रकार कह सकते हैं,

जहाँ–जहाँ धूम है वहाँ–वहाँ अग्नि है, जैसे रसोई घर में।

पर्वत पर धूम है।

इसलिए पर्वत पर अग्नि है।

दिङ्नाग के अनुसार किसी न्याययाक्य में केवल उपरोक्त तीन याक्य ही पर्याप्त हैं और ये न्याय दर्शन के पांच याक्यों की आलोचना करते हैं। दिङ्नाग के अनुसार अनुमान में तीन नियम पर्याप्त होते हैं:–

हेतु की पक्ष में उपस्थिति।

सपक्ष (समान पक्ष) में उपस्थिति।

और विपक्ष में अनुपस्थिति।

हेत्याभास तब उत्पन्न होता है, जब इन नियमों का उल्लंघन होता है।

17.5 बौद्ध सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि

प्रारम्भिक बौद्ध–दर्शन की महत्वपूर्ण विशेषताओं को बाद के सभी बौद्ध सम्प्रदाय विशेष महत्व देते हैं। सभी यस्तुएं अनित्य हैं तथा संघात हैं, ये दोनों सिद्धांत सभी बौद्ध सम्प्रदायों के विचारों को किसी ना किसी रूप में प्रभावित करते रहे हैं। निःसन्देह, प्रत्तीयसमुत्पाद का सिद्धांत बौद्ध दर्शन का प्रमुख सिद्धांत है और यह बौद्ध दर्शन के सभी सम्प्रदायों के विकास के लिये महत्वपूर्ण रहा है।

बौद्धों के अनुसार परिवर्तन पूर्णतः होता है तथा परिवर्तन का आश्रय जैसा कोई अपरिवर्तित तत्व नहीं होता। सामान्य सिद्धान्त के अनुसार 'अब' का परिवर्तन 'अस' में होता है तो अ अपरिवर्तनशील रहता है तथापि इसका ब स में परिवर्तित हो जाता है। बौद्ध दर्शन इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता है। उनके अनुसार परिवर्तन समग्रता में होता है। परिवर्तन सम्पूर्ण में होता है। इसमें विकास नहीं होता है। 'अब' 'अस' में नहीं अपितु 'इस' में परिवर्तित होगा। अतः उपरोक्त तत्व यह है जो क्षणिक है तथा जिसमें कारण सामर्थ्य है। उदाहरण के लिए, यदि बीज पौधे में परिवर्तित होता है, तो बीज का कोई अंश शेष नहीं रहता है। पौधा पूर्णरूप से एक नई कृति होती है इस कारण–सामर्थ्य को संस्कृत में अर्थक्रियाकारित्व कहा जाता है। उदाहरण से बिल्कुल स्पष्ट है कि अर्थक्रियाकारित्व की सन्तान परम्परा में निरन्तरता रहती है और किसी यस्तु के विनाश के लिए किसी बाहरी कारण की आवश्यकता नहीं होती है। यदि कोई यस्तु अपने से अपना विनाश नहीं करती है, तो बाहरी कारणों से इसका विनाश नहीं किया जा सकता। यदि कोई यस्तु उसी क्षण में विनाश को नहीं प्राप्त होती है, जिस क्षण में यह उत्पन्न होती है, तो अगले क्षण में विनाश के लिए कोई कारण नहीं हो सकता। अतः यस्तु यदि क्षणिक नहीं हो तो यह नित्य हो जाएगी, यह बौद्धों को स्वीकार नहीं है।

बौद्धों के इस सिद्धांत को अन्य भारतीय दर्शन सम्प्रदायों ने स्वीकार नहीं किया है। आलोचक कहते हैं कि यदि सब कुछ प्रवाहमान है, तो प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी? बौद्धों का उत्तर है कि सब कुछ प्रतिक्षण प्रवाहमान है परन्तु इस प्रवाहमान परम्परा की सान्यता को तादात्म्यता समझ लिया जाता है। प्रत्यभिज्ञा स्मृति और प्रत्यक्ष का मिश्रित रूप है। जो हम प्रत्यक्ष करते हैं और जो हम स्मरण करते हैं ये दोनों सन्तान परम्परा के अंग हैं, लेकिन हम साम्यता को तादात्म्य के रूप में ले लेते हैं। दीपशिखा को उदाहरण के लिए लिया जा सकता है। तेल के जलने से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि दीपशिखा दो क्षणों में एक समान नहीं रहती, इसी प्रकार सभी वस्तुएं क्षणभंगुर हैं।

दूसरी आलोचना अर्थक्रियाकारित्व को लेकर है। बौद्धों के अनुसार संतान परम्परा का अन्त नहीं होता है। केवल एक सन्तान परम्परा के बाद दूसरी सन्तान परम्परा आ जाती है जैसे बीज सन्तान परम्परा के बाद पौध–सन्तान परम्परा। लेकिन ये जब जीव सन्तान परम्परा की चर्चा करते हैं, तो कहते हैं कि निर्वाण में इस सन्तान परम्परा का अन्त हो जाता है। यदि ऐसा है तो जीव सन्तान परम्परा का अन्तिम सदस्य अर्थक्रियाकारित्व से रहित हो जाएगा और यह अयथार्थ हो जाएगा। अतः पूरी जीव सन्तान परम्परा अयथार्थ है और निर्वाण का कोई अर्थ नहीं है। लेकिन बौद्ध मानते हैं कि निर्वाण अथवा मुक्ति सत्य है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में अनुभवजन्य होने से निर्वाण सत्य है।

बौद्धों के चार सम्प्रदायों में से वैभाषिक बहुत्ववादी यथार्थवादी हैं। ये मानते हैं कि स्वलक्षण की सत्ता प्रत्यक्ष कर्ता से पृथक् है। देश और काल मानसिक चश्मे हैं तथा कोई भी स्वलक्षण अपने आप मे विस्तार और स्थिति नहीं रखता है। लेकिन यह स्वलक्षण परमतत्त्व नहीं है यह आभास है तथा परमतत्त्व परमाणु है।

वैभाषिकों के आलोचक यह कहते हैं कि स्वलक्षण जगत् की व्याख्या के लिए पर्याप्त नहीं है और इसे छोड़ा जा सकता है। स्वलक्षण के साथ सामान्य लक्षण लगा रहता है। अतः यह पूर्ण यथार्थवाद नहीं है। यद्यपि हीनयान के सम्प्रदाय विज्ञानवादी नहीं थे परन्तु बुद्ध की शिक्षाओं के प्रति अधिक समर्पण दिखाने से उनमें त्रुटियां दिखाई देती हैं और स्वलक्षण उसी का परिणाम है। इन दोषों को दूर करने का प्रयास सौत्रान्तिक सम्प्रदाय मे किया गया है, जो प्रत्यक्ष के प्रतिबिम्बवादी सिद्धांत का अनुमोदन करता है।

विज्ञानवाद बाह्यार्थवादी नहीं हैं। उन्हें योगाचार कहा जाता है, क्योंकि ये मानते हैं कि बुद्धत्व की प्राप्ति योग से की जा सकती है। इस सम्प्रदाय में बाह्यार्थ विज्ञान स्वरूप है। एक सजातीय विज्ञान ही सत्य है, जो अमूर्त नहीं अपितु मूर्त सत्ता है। सभी तथ्य ज्ञाता की बुद्धि पर निर्भर हैं। यह आलय विज्ञान है। आलय, जो विषयी और विषय का मिश्रित रूप है, स्वयं अपने आप में एक लघु जगत् है। इसके स्वयं अपने परिणाम होते हैं। यह आत्मा से भिन्न है, क्योंकि यह परिवर्तनशील है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्गत् आलय विज्ञान में अनेक बीज वर्तमान हैं। हमें उसके कुछ अंशों का ही ज्ञान होता है। विशेष व्यवहार आलय के ही परिणाम हैं। परिस्थितियों की संख्या और प्रकृति के अनुसार आलय विज्ञान परम सम्पूर्णता, मौलिकता तथा सर्जनात्मकता है। यह देश और काल से निरपेक्ष है। देष और काल मूर्त और अनुभवात्मक व्यक्ति के अस्तित्व के दो प्रकार हैं। आलय विज्ञान में विषयी और विषयी दोनों समाहित हैं।

शंकराचार्य ने योगाचार की अनेक आधारों पर आलोचना की है। शंकर कहत हैं कि योगाचार प्रत्यक्ष की संतोषजनक व्याख्या नहीं करता है। साथ–साथ विचार (प्रत्यय) और

वस्तु का ग्रहण होने से यह सिद्ध नहीं होता है कि दोनों एक ही हैं। अपृथक् सम्बन्ध तादात्म्य से भिन्न है।

शंकर का कहना है कि जाग्रत् अवस्था की स्वप्नावस्था से तुलना करना ठीक नहीं है। स्वप्न के आधार पर जाग्रत् अवस्था की व्याख्या नहीं की जा सकती। स्वप्नावस्था आत्मनिष्ठ है और जब तक स्वप्न रहता है तभी तक इसका अस्तित्व रहता है, लेकिन जाग्रत् अवस्था इसके बाद भी रहती है। शंकराचार्य का कहना है कि जाग्रत् अवस्था को तभी भ्रामक कहा जा सकता है, जब किसी अन्य अवस्था में इसका बाध (न होना या होने में बाधा) हो। स्वप्नावस्था का जाग्रत् अवस्था में बाध होता है, लेकिन जाग्रत् अवस्था का बाध दिखाई नहीं पड़ता है, इसलिए दोनों में भेद है।

दुर्भाग्य से विज्ञानवादी आलय के सही–सही रूप को लेकर स्पष्ट नहीं हैं और विज्ञानवाद सम्बन्धी असंतोश उनके क्षणिकवादी सिद्धांत की मान्यता का प्रतिफल है।

17.6 माध्यमिक का शून्यवाद

शब्द माध्यमिक का अर्थ बुद्ध द्वारा उपदेशित मध्यम मार्ग है। यह सत्य और असत्य के मध्य का मार्ग है। यह सत्य और असत्य, गुण और द्रव्य तथा कार्य और कारण के बीच मध्यम मार्ग का अवलम्बन करता है। अतः माध्यमिक सम्प्रदाय विधान और निषेध के मध्य से निकलने का प्रयास करता है।

जगत् का व्यावहारिक स्वरूप प्रतीत्यसमुत्पाद पर आधारित है। कोई वस्तु अपने आप में उपस्थित नहीं है। सभी वस्तुएं परस्पर सापेक्ष हैं। माध्यमिक सभी धर्मों और उनके संघात को मिथ्या नहीं कहते हैं (यहाँ बौद्ध दर्शन में धर्म का अर्थ कारणमूलक तत्वों से है।) बल्कि उन्हें व्यावहारिक बताते हैं। उनके अनुसार न तो बाह्य वस्तुएं यथार्थ है और न ही आन्तरिक आत्म यथार्थ है, क्योंकि इनका कोई पर्याय तार्किक विवरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। योगाचार बाह्य वस्तुओं को अयथार्थ बताता है, क्योंकि हम उनका उत्पत्ति स्रोत यथा स्वयं अस्तित्व, परमाणु या कोई अन्य जटिल पदार्थ सही ढंग से कभी नहीं जान सकते हैं। नागार्जुन इससे भी एक कदम आगे बढ़ते हुए चेतना की सत्ता का भी अपलाप करते हैं और कहते हैं कि इसके भी स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। माध्यमिक सर्वशून्यतावादी हैं। व्यावहारिक वस्तुएँ पुद्गल शून्यता अथवा धर्म शून्यता के कारण शून्य हैं। इस पद शून्य का प्रयोग प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में भी किया गया है लेकिन, उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में माध्यमिक दर्शन करता है। यहाँ पर यह तीन पदों दुःख, अनित्य और अनात्मा के साथ प्रयुक्त चौथा पद है। अतः हीनयानी के लिए शून्य का अर्थ का अर्थ अनात्मा है, लेकिन माध्यमिक के लिए शून्यवाद मध्यम मार्ग है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद का तार्किक निष्कर्ष है। शून्यवाद न सन्देहवाद है, न ही नास्तिवाद है; जो समस्त जगत् की सत्ता का खण्डन करता है। इसका उद्देश्य मात्र यही ही है कि वस्तुओं की सत्ता का पारमार्थिक विधान नहीं किया जा सकता तथापि व्यवहारतः यह सत्य है। माध्यमिक यह जानता है कि निरपेक्ष निषेध असम्भव है क्योंकि उसके लिए विधान की आवश्यकता होती है। अतः नागार्जुन विधान और निषेध दोनों को अस्वीकार करते हैं। शून्य अनिवर्चनीय है। यह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। यह न सत् है, न असत है, न दोनों है, न दोनों से भिन्न है। यह व्यवहारतः सापेक्ष है तथा परमार्थतः अनिवर्चनीय है। सापेक्ष होने से शून्य है तथा परमार्थतः चतुष्कोटि से परे होने के कारण शून्य है। व्यवहार स्वभावतः शून्य है। अतः सर्व शून्यम्।

सत् प्रपंच–शून्य अथवा बहुलता से रहित है। द्वन्द्ववाद माध्यमिक दर्शन का हृदय है। इसमें दो प्रमुख दृष्टियाँ हैं– सत् और असत्। इन दोनों के युगपद् विधान और निषेध से 'सदसद्' (सत् और असत् दोनों) और 'न सत् न असत्' ये दो दृष्टियाँ और आती हैं। इन्हीं को चतुष्कोटि कहा जाता है। माध्यमिकों के अनुसार यह जो यह मानता है कि सभी व्यावहारिक धर्म निःस्वभाव हैं, भ्रामक हैं, चतुष्कोटिविनिर्मुक्त हैं, वह बुद्ध की प्रज्ञा को जानता है तथा निर्वाण को प्राप्त करता है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. बाह्यार्थ की सत्ता के खण्डन के लिए विज्ञानवादी क्या युक्तियां प्रस्तुत करते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2. बौद्ध दर्शन में ज्ञान के विभागों पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

17.7 सारांश

भगवान बुद्ध ने जो आचार विषयक शिक्षाएँ (प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में मान्य) दी थीं। उनको सभी बौद्ध सम्प्रदायों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। अतः उनके इस मत को सभी ने स्वीकार किया कि सब कुछ दुःखमय है तथा सुख भी अव्यक्त रूप से दुःखमय है और दुःख से छुटकारा ज्ञान से ही मिल सकता है। निर्वाण को भी सभी ने स्वीकार किया। महायान और हीनयान के मध्य विवाद जीवन के आदर्श को लेकर हुआ। महायान और हीनयान दोनों व्यक्ति के निर्वाण के लिए इच्छुक हैं, लेकिन महायान में निर्वाण की प्राप्ति नहीं है। उनका आदर्श बोधिसत्व है, जो हीनयान के अर्हत् के आदर्श से भिन्न है। बोधिसत्व निर्वाण की योग्यता रखते हुए भी दूसरें के कल्याण के लिए अपने निर्वाण को स्थगित कर देता है। बोधिसत्व दूसरे को दुःख और बन्धन से छुड़ाने में समर्थ भूमिका निभाता है। वस्तुतः महायान में इस तथ्य पर अधिक बल दिया गया है। इस विचार ने बुद्ध धर्म के प्रसार में प्रमुख भूमिका निभाई। महायान में बुद्ध को ईश्वर के रूप में भी मान्यता दी गयी। यह भी इसे हीनयान से पृथक् करता है। ईसा की प्रथम शताब्दी मे बुद्ध पूजा

प्रारम्भ हो गयी थी और त्रिरत्न के अन्तर्गत् बुद्ध की शरण लेना भी अनिवार्य हो गया था। कोई भी बौद्ध मतावलम्बी गृहस्थ अथवा भिक्षु निम्न प्रकार से त्रिशरण लेता है:

बुद्धं शरणं गच्छामि।

धम्मं शरणं गच्छामि।

संघ शरणं गच्छामि।

17.8 कुंजी शब्द

विहार : यह किसी मकान या प्रासाद को संकेत करता है। जहाँ बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ रहते हैं तथा प्रार्थना के लिए एकत्रित होते हैं।

17.9 सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

अग, एस. जेड. (एडि.) *कम्पेन्डियम आफ फिलोसॉफी.* लन्दन: लुजाक एण्ड कम्पनी, 1963.

इचिमूरा, एस. *बुद्धिस्ट क्रिटिकल स्पिरिचुएलटी: प्रज्ञा एण्ड शून्यता.* देल्ही: मोतीलाल बनारसीदास, 2001.

डेविस, रीस. *वेफेयरर्स बर्ड्स* वोल्यूम–3. लन्दन: लुजाक एण्ड कम्पनी, 1940–42

दत्त, एन. *आस्पेक्टस ऑफ महायान बुद्धिज्म एण्ड इट्स रिलेशन टू हीनयान.* लन्दन: लुजाक एण्ड कम्पनी, 1930.

मूर्ति, टी. आर.वी. *द सेन्ट्रल फिलोसॉफी ऑफ बुद्धिज्म.* लन्दन: जार्ज ऐलन एण्ड अनविन लि., 1955.

शर्मा, सी डी. *अ क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* देल्ही: मोतीलाल बनारसीदास, 1990.

शेरवात्स्की, टीएच. *बुद्धिस्ट लॉजिक,* टू वोल्युम्स. देल्ही: मोतीलाल बनारसीदास, 2008.

सिन्हा, जदुनाथ. *इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन फिलॉसोफी.* आगरा: लक्ष्मी नारायन अग्रवाल, 1949.

हुआंग, भिक्षुनी जिये. *बोधिसत्व एण्ड शून्यता.* देल्ही: ईस्टर्न बुक्स लिंकर्स, 2005.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

शर्मा, अम्बिकादत्त. "बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष की अवधारणा". *परामर्श,* 35/1–4(2018): 23–62.

शर्मा, अम्बिकादत्त. *बौद्ध प्रमाण दर्शन.* सागर: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2007.

शेरवात्स्की एफ. *बौद्ध न्याय,* प्रथम भाग. अनुवाद– रामकुमार राय. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 1969.

सूरी, हरिभद्र. *षडदर्शनसमुच्चय.* अनुवाद– कामेश्वरनाथ मिश्र. वाराणसीः चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1979.

सिंह, हरि शंकर. *बौद्ध–प्रमाणमीमांसा.* मुजफ्फरनगरः वेदांशी पब्लिकेशन, 2011.

17.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. बुद्ध के द्वारा स्थापित बौद्ध धर्म व्यावहारिक है। भगवान बुद्ध का मुख्य उद्देश्य दुःख से छुटकारा पाना था। अतः उन्होंने अमूर्त तत्त्वमीमांसीय तर्कों पर बल नहीं दिया। सूत्रों में वर्णित एक आख्यान ध्यातव्य है, शीशम के वृक्ष के नीचे बैठे बुद्ध ने कुछ पत्तियों को एकत्रित करके अपने शिष्यों से पूछाः शिष्यों! क्या वृक्ष पर इतनी ही पत्तियाँ हैं? शिष्यों ने कहा नहीं भगवन। तब भगवान बुद्ध ने कहा कि बुद्ध का ज्ञान उतना ही नहीं है, जितना प्रवचनों के माध्यम से दिया गया है।

2. विद्वानों के अनुसार बौद्ध धर्म के चार सम्प्रदाय हैं। दो का सम्बन्ध हीनयान से है और दो का सम्बन्ध महायान से है। वैभाषिक और सौत्रान्तिक हीनयान के सम्प्रदाय हैं तथा माध्यमिक और योगचार महायान के सम्प्रदाय हैं। हीनयान के सम्प्रदाय यथार्थवादी हैं या सर्वास्तित्ववादी हैं। ये स्वलक्षणों में विश्वास करते हैं। योगाचार विज्ञानवादी है तथा माध्यमिक शून्यवादी है।

बोध प्रश्न 2

1. विज्ञानवादियों के अनुसार ज्ञान के तीन घटकों ज्ञाता, ज्ञेय और विज्ञान में से केवल विज्ञान ही यथार्थ है तथा अन्य दो विज्ञान की ही अभिव्यक्ति भर हैं। विज्ञान का स्वरूप वस्तु से निर्धारित न होकर पूर्व अनुभवों से निर्धारित होता है। ज्ञानाकार अन्दर से आता है बाहर से नहीं। अतः विज्ञानवाद के अनुसार चेतना और चेतना की वस्तु एक ही है। विज्ञानवाद बताता है कि वस्तुएं द्रव्य नहीं है, न ही स्वलक्षण स्वरूप है, क्योंकि स्वलक्षण भी अर्थक्रियाकारी होता है। अतः इन दार्शनिकों के अनुसार बाह्य जगत् न केवल प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से अपितु तात्त्विक दृष्टि से भी चेतना पर निर्भर है, इसके लिए यह स्वप्न का उदाहरण देते हैं। जैसे स्वप्न में ज्ञाता बाह्य वस्तुओं का निर्माण करता है, वैसे ही जाग्रत् अवस्था में चेतना वस्तुओं का निर्माण करती है। द्वितीयतः चेतना स्वसंवित होती है। यह भी कहा जा सकता है कि एक ही वस्तु विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार से दिखाई पड़ती है। योगाचार के अनुसार ऐसा इसलिए संभव है क्योंकि बाह्यार्थ की सत्ता नहीं है। तथापि ये सभी तर्क विज्ञानवाद की सिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि ज्ञाता का ज्ञान आत्मनिष्ठ होते हुए भी वस्तु वस्तुनिष्ठ हो सकती है।

2. बौद्ध प्रमाण मीमांसा में ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भागों में बांटा गया है। इन दोनों स्रोतों को दिङ्नाग की शब्दावली में प्रत्यक्ष और अनुमान कहा जाता है। बौद्ध दर्शन में यही दो ज्ञान के स्रोत स्वीकृत हैं। बौद्धों को अन्य प्रमाण जैसे शब्द आदि मान्य नहीं हैं।